

Chapter बारह

सम्राट परीक्षित का जन्म

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।

उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक मुनि ने कहा; अश्वत्थाम्न—अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) के; उपसृष्टेन—छोड़े जाने से; ब्रह्म-शीर्ष्णा—अजेय अस्त्र, ब्रह्मास्त्र; उरु-तेजसा—उच्च ताप से; उत्तरायाः—उत्तरा (परीक्षित की माता) का; हतः—नष्ट; गर्भः—गर्भ; ईशेन—परमेश्वर द्वारा; आजीवितः—जीवित कर दिया गया; पुनः—फिर से ।

शौनक मुनि ने कहा : महाराज परीक्षित की माता उत्तरा का गर्भ अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये अत्यन्त भयंकर तथा अजेय ब्रह्मास्त्र द्वारा विनष्ट कर दिया गया, लेकिन परमेश्वर ने महाराज परीक्षित को बचा लिया ।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के वन में एकत्रित हुए ऋषियों ने सूत गोस्वामी से महाराज परीक्षित के जन्म के विषय में प्रश्न किया, लेकिन इस वार्ता के बीच अन्य विषयों की चर्चा की गई, जैसे कि, द्रोणपुत्र द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र, अर्जुन द्वारा उसे दण्ड, रानी कुन्तीदेवी की प्रार्थना, पाण्डवों द्वारा भीष्मदेव के पास जाना, उनकी प्रार्थनाएँ, तत्पश्चात् द्वारका के लिए भगवान् का प्रस्थान इत्यादि । फिर कृष्ण का द्वारका आना तथा सोलह हजार रानीयों के साथ निवास करने इत्यादि की भी चर्चा की गई । सारे ऋषि-मुनि इन विवरणों के सुनने में लीन थे, किन्तु अब वे अपने मूल विषय पर लौटना चाह रहे थे, अतएव शौनक ऋषि ने इस तरह की जिज्ञासा की । इस तरह अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र की चर्चा फिर से आ गई ।

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।

निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (महाराज परीक्षित का); जन्म—जन्म; महा-बुद्धेः—अत्यन्त बुद्धिमान का; कर्माणि—कार्यकलाप; च—भी; महा-आत्मनः—महान्; निधनम्—मृत्यु; च—तथा; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; आसीत्—हुआ; सः—वह; प्रेत्य—मृत्यु के पश्चात् गन्तव्य; गतवान्—प्राप्त किया; यथा—जिस तरह ।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा महान् भक्त महाराज परीक्षित उस गर्भ से कैसे उत्पन्न हुए? उनकी मृत्यु किस तरह हुई? और मृत्यु के बाद उन्होंने कौन सी गति प्राप्त की?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के पुत्र के जीवन-काल तक, हस्तिनापुर (अब दिल्ली) का राजा सारे विश्व का सम्राट होता था। महाराज परीक्षित की रक्षा उनकी माता के गर्भ में भगवान् द्वारा की जा चुकी थी। अतएव वे एक ब्राह्मण-पुत्र के शाप से अकाल-मृत्यु से वे निश्चित ही बचाये जा सकते थे। चूँकि महाराज परीक्षित द्वारा राज्य सँभालने के बाद ही कलियुग ने अपना कार्य करना शुरू कर दिया था, अतएव इसका जो पहला कुलक्षण प्रकट हुआ, वह था इतने बुद्धिमान तथा भक्त राजा, महाराज परीक्षित, का शापित होना। राजा तो असहाय नागरिकों का रक्षक होता है और उन सबका कल्याण, शान्ति तथा सम्पन्नता उसी पर निर्भर रहती है। दुर्भाग्यवश, पतित कलियुग के बहकावे में आकर, एक अभागे ब्राह्मण-पुत्र द्वारा निर्दोष महाराज परीक्षित को लांछित कराया गया और इस तरह राजा को सात दिनों में अपनी मृत्यु के लिए तैयार होना था। महाराज परीक्षित, विष्णु द्वारा रक्षा किये जाने के लिए, विशेष रूप से विख्यात हैं। अतएव जब एक ब्राह्मण-पुत्र ने उन्हें वृथा ही शाप दे डाला, तब भी यदि वे चाहते तो अपनी रक्षा के लिए भगवान् की कृपा का आवाहन कर सकते थे, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने ऐसा नहीं करना चाहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् से अनावश्यक कृपा-याचना नहीं करता। महाराज परीक्षित को ज्ञात था और अन्य लोगों को भी पता था कि ब्राह्मण-पुत्र द्वारा दिया शाप अवैध है, किन्तु वे उसका प्रतिकार करना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे यह भी जानते थे कि कलियुग का शुभारम्भ हो चुका है और इस युग का पहला लक्षण भी, अत्यन्त प्रतिभावान ब्राह्मण जाति के पतन के साथ प्रकट हो चुका है। वे काल-प्रवाह के मार्ग में बाधक बनना नहीं चाह रहे थे, अपितु वे खुशी-खुशी और उचित ढंग से मृत्यु-वरण करने के लिए तैयार थे। वे भाग्यशाली थे कि मृत्यु के लिए तैयारी करने के लिए उन्हें कम से कम सात दिन का समय मिला था। अतएव उन्होंने इस समय का सदुपयोग परम सन्त तथा भगवद्भक्त शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य में किया।

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे ।

ब्रूहि नः श्रद्धानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—सारा; इदम्—यह; श्रोतुम्—सुनने को; इच्छामः—सभी इच्छा कर रहे हैं; गदितुम्—वर्णन करने को; यदि—यदि; मन्यसे—आप सोचते हों; ब्रूहि—कृपा करके कहें; नः—हमसे; श्रद्धानानाम्—श्रद्धालुओं को; यस्य—जिसका; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अदात्—प्रदान किया; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

हम सभी अत्यन्त आदरपूर्वक उनके (महाराज परीक्षित के) विषय में सुनना चाहते हैं, जिन्हें शुकदेव गोस्वामी ने दिव्य ज्ञान प्रदान किया। कृपया हमें इस विषय में बताएँ।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को उनके जीवन के अन्तिम सात दिनों में दिव्य ज्ञान प्रदान किया, जिसे महाराज ने श्रद्धालु शिष्य की भाँति ठीक से सुना। *श्रीमद्भागवत* के इस प्रकार के प्रामाणिक श्रवण तथा कीर्तन का प्रभाव श्रोता तथा वक्ता पर समान रूप से पड़ता है। इससे दोनों लाभान्वित हुए थे। *भागवत* में भक्ति के जिन नौ विभिन्न दिव्य साधनों का वर्णन हुआ है, यदि उनमें से सभी या कुछ का या किसी एक का भी ठीक से पालन हो, तो वे समान रूप से लाभप्रद होते हैं। महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी, दोनों ही प्रथम दो साधनों अर्थात् श्रवण तथा कीर्तन के साधक थे। अतएव दोनों ही अपने प्रशंसनीय प्रयास में सफल रहे। दिव्य अनुभूति ऐसे ही गम्भीर श्रवण तथा कीर्तन से होती है, अन्यथा नहीं। इस कलियुग में गुरु तथा शिष्य सम्बन्धी एक विशेष प्रकार का विज्ञापन हो रहा है। कहा जाता है कि गुरु द्वारा उत्पन्न विद्युत्-धारा के द्वारा, शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट की जाती है, जिससे शिष्य को उसका आघात अनुभव होता है। इससे वह अचेत हो जाता है और गुरु तथाकथित आध्यात्मिक निधि के क्षीण हो जाने पर रोता है। इस युग में इस तरह का झूठा विज्ञापन चल रहा है और निरीह जनता ऐसे विज्ञापन का शिकार बन रही है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी तथा उनके महान् शिष्य महाराज परीक्षित के आचरण के विषय में हमें ऐसी लोक-कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं। मुनि ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी और राजा ने उसे अत्यन्त नियमपूर्वक सुना था। राजा ने न तो अपने गुरु से किसी प्रकार की विद्युत्-धारा के आघात का अनुभव किया था, न ही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते समय वे अचेत हुए थे। अतएव लोगों को चाहिए कि वे वैदिक ज्ञान के इन निठल्ले प्रतिनिधियों द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के अप्रामाणिक विज्ञापनों के बहकावे में न आएँ। नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि महाराज परीक्षित के विषय में अत्यन्त आदरपूर्वक श्रवण कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने गम्भीर श्रवण द्वारा शुकदेव गोस्वामी से ज्ञान प्राप्त किया था। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि उसे प्रामाणिक गुरु से *गम्भीर श्रवण* द्वारा ग्रहण किय जाय। उसके लिए आश्चर्यजनक

प्रभावों को उत्पन्न करने हेतु न तो किसी चिकित्सीय करतब की, न ही योग के चमत्कार की आवश्यकता है। यह विधि सरल है, लेकिन एकनिष्ठ होने पर ही मनोवांछित फल मिल सकता है।

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; अपीपलत्—शासित सम्पन्नता; धर्म-राजः—राजा युधिष्ठिर ने; पितृ-वत्—अपने पिता के समान; रञ्जयन्—प्रसन्न करते हुए; प्रजाः—जन्म ग्रहण करने वालों को; निःस्पृहः—बिना किसी व्यक्तिगत आकांक्षा के; सर्व—समस्त; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; कृष्ण-पाद—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; अनुसेवया—निरन्तर सेवा करते रहने से।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : सम्राट युधिष्ठिर ने अपने राज्य-काल में सबों के ऊपर उदारतापूर्वक शासन चलाया। वे उनके पिता तुल्य ही थे। उन्हें कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न थी और भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की निरन्तर सेवा करते रहने के कारण, वे सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विरक्त थे।

तात्पर्य : जैसाकि हमने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है, “संसार के समस्त कष्ट सह रहे जनसमुदाय के लिए मानव समाज में कृष्ण के विज्ञान की आवश्यकता है और समस्त राष्ट्रों के प्रमुख महापुरुषों से हमारी एक ही विनती है कि वे अपने कल्याण हेतु, समाज के कल्याण हेतु तथा विश्व भर के लोगों के कल्याण हेतु, कृष्णातत्त्व को ग्रहण करें।” यहाँ पर सत्य की प्रतिमूर्ति, महाराज युधिष्ठिर के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। भारत में लोग *रामराज्य* की लालसा करते हैं, क्योंकि भगवान् राम आदर्श राजा थे और भारत के सारे राजा या सम्राट, पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक प्राणी की सम्पन्नता के लिए विश्व के भाग्य का नियमन करते थे। यहाँ पर *प्रजा*: शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका व्युत्पत्तिपरक आशय है, “जिसने जन्म लिया है वह।” पृथ्वी पर जीवों की अनेक योनियाँ हैं—जलचर से लेकर पूर्ण मनुष्यों तक और वे सभी *प्रजा* कहलाती हैं। इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी प्रजापति कहलाते हैं, क्योंकि जिन लोगों ने जन्म लिया है, उन सबके वे पितामह हैं। इस प्रकार *प्रजा* शब्द जिस अर्थ में आजकल प्रयुक्त होता है, वह उससे अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा सभी जीवों—जलचर, पौधे, वृक्ष, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। इनमें से हर एक प्राणी

परमेश्वर का अंश है (*भगवद्गीता* १४.४) और भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा सबों को उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए वचनबद्ध होता है। किन्तु आज की चरित्रविहीन प्रशासन पद्धतियों के राष्ट्रपति तथा तानाशाहों के साथ ऐसा नहीं है, जहाँ निम्न पशुओं को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, जबकि उच्चतर पशुओं को तथाकथित सुरक्षा प्रदान प्राप्त रहती है। लेकिन यह एक महान् विज्ञान है, जिसे कृष्णतत्त्व जाननेवाला ही सीख सकता है। कृष्ण के विज्ञान को समझकर कोई भी विश्व का पूर्णतम व्यक्ति बन सकता है और जब तक मनुष्य को इस विज्ञान (तत्त्व) का ज्ञान नहीं होता, तब तक शिक्षा द्वारा अर्जित सारी उपाधियाँ तथा स्नातकोत्तर अनुसंधान की सनदें व्यर्थ और निरर्थक होती हैं। महाराज युधिष्ठिर इस कृष्ण-तत्त्व को भलीभाँति जानते थे, क्योंकि यहाँ पर यह कहा गया है कि इस विज्ञान के निरन्तर अनुशीलन से, या भगवान् कृष्ण की सतत भक्तिमय सेवा से, उन्होंने राज्य पर शासन करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी। कभी-कभी पिता अपने पुत्र पर अनावश्यक रूप से निर्दय होते दिखता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पिता ने पिता होने की योग्यता खो दी है। पिता सदा पिता ही रहता है, क्योंकि उसके हृदय में पुत्र का हित ही सर्वोपरि होता है। पिता चाहता है कि उसका हर लड़का उससे बढ़कर हो। अतएव महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा, जो सतोगुण की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे, चाहते थे कि उनके अधीन सारे लोग, विशेष रूप से मनुष्य जिनकी चेतना अधिक विकसित रहती है, भगवान् कृष्ण के भक्त बनें जिससे वे इस भौतिक संसार की झंझटों से मुक्त हो सकें। उनके शासन का मूलमंत्र था—सभी नागरिकों का कल्याण, क्योंकि मूर्तिमंत सत्त्वगुण होने के कारण वे जानते थे कि नागरिकों की भलाई किसमें है। वे इसी सिद्धान्त पर शासन चलाते रहे, इन्द्रिय-तृप्ति के राक्षसी या आसुरी सिद्धान्त पर नहीं। आदर्श राजा के रूप में, उनकी कोई निजी आकांक्षा न थी और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ सदा परमेश्वर की प्रेममयी सेवा में लगी रहती थीं, जिसमें जीवों की आंशिक सेवा सम्मिलित है, क्योंकि जीव परम पूर्ण के अंश रूप हैं। जो लोग पूर्ण को छोड़कर केवल अंश की सेवा में व्यस्त रहते हैं, वे केवल अपने समय तथा शक्ति दोनों का अपव्यय ही करते हैं, जिस तरह कोई मनुष्य जड़ों को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों को सींचे। यदि जड़ों में पानी डाला जाता है, तो पत्तियाँ स्वतः पूरी तरह सजीव रहती हैं, किन्तु यदि केवल पत्तियों पर जल डाला जाय तो सारी शक्ति व्यर्थ जाती है। अतएव महाराज युधिष्ठिर भगवान् की सेवा में सदा लीन

रहते थे और इस प्रकार से भगवान् के अंश रूप सारे जीव, उनके सतर्क शासन के अन्तर्गत जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त करते थे और अगले जीवन में उनकी उन्नति होती थी। राज्य प्रशासन की पूर्ण व्यवस्था की यही विधि होती है।

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही ।

जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सम्पदः—ऐश्वर्य; क्रतवः—यज्ञ; लोकाः—भावी गन्तव्य; महिषी—रानियाँ; भ्रातरः—भाई; मही—पृथ्वी; जम्बू-द्वीप—वह मंडल या ग्रह जिसमें हम रह रहे हैं; आधिपत्यम्—सार्वभौम अधिपत्य; च—भी; यशः—ख्याति; च—तथा; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक तक; गतम्—व्याप्त।

महाराज युधिष्ठिर की सांसारिक उपलब्धियों, सद्गति प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले यज्ञों, उनकी महारानी, उनके पराक्रमी भाइयों, उनके विस्तृत भूभाग, पृथ्वी ग्रह पर उनका सार्वभौम अधिपत्य तथा उनकी ख्याति आदि के समाचार स्वर्ग-लोक तक पहुँच गये।

तात्पर्य : केवल धनी तथा महान् पुरुष का ही नाम तथा यश सारे विश्व में विख्यात होता है। महाराज युधिष्ठिर का नाम तथा यश उनके उत्तम शासन, भौतिक उपलब्धियों, महिमामयी पत्नी द्रौपदी, अपने भाइयों भीम तथा अर्जुन के पराक्रम तथा जम्बूद्वीप नाम से विख्यात विधि में अपनी सार्वभौम शक्ति के कारण स्वर्गलोक तक पहुँच चुके थे। यहाँ लोकाः शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न लोक बिखरे हुए हैं। इस जीवन में कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से उन तक पहुँच सकता है, जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है। वहाँ पर कोई बलपूर्वक प्रवेश नहीं कर सकता। जिन क्षुद्र भौतिक विज्ञानियों तथा इंजीनियरों ने बाह्य अन्तरिक्ष में कुछ हजार मील दूरी तक यात्रा करने के यान खोज निकाले हैं, उन्हें वहाँ प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जाएगी। उत्तम लोकों में पहुँचने की विधि यह नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ तथा सेवा के द्वारा ऐसे सुखी लोकों में प्रवेश करने का पात्र बने। जो पग-पग पर पापी जीवन बिताते हैं, उन्हें पशु जीवन में गिरकर अधिकाधिक भौतिक दुख भोगने की ही आशा करनी चाहिए और *भगवद्गीता* (१६.१९) में भी इसका उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर के उत्तम यज्ञ तथा उनकी योग्यताएँ इतनी महान् तथा यशपूर्ण थीं कि स्वर्गलोक के निवासी भी उन्हें अपने में से एक मानकर उनका स्वागत करने को तैयार थे।

किं ते कामाः सुरस्पर्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।

अधिजहुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

किम्—किसलिए; ते—वे सब; कामाः—इन्द्रिय भोग के विषय; सुर—स्वर्ग के निवासियों की; स्पर्हाः—आकांक्षाएँ; मुकुन्द-मनसः—पहले से ईश्वर भावना-भावित का; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; अधिजहुः—सन्तुष्ट कर सके; मुदम्—प्रसन्नता; राज्ञः—राजा का; क्षुधितस्य—भूखे का; यथा—जिस तरह; इतरे—अन्य वस्तुओं में।

हे ब्राह्मणो, राजा का ऐश्वर्य इतना मोहक था कि स्वर्ग के निवासी भी उसकी आकांक्षा करने लगे थे। लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में तल्लीन रहते थे, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी तुष्ट नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : संसार में दो वस्तुएँ होती हैं, जिनसे जीवों की तुष्टि हो सकती है। जब कोई भौतिकता में डूबा हुआ रहता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति से ही तुष्ट होता है, किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से मुक्त होता है, तो वह भगवान् की तुष्टि के लिए प्रेमामयी सेवा करके ही तुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव वैधानिक रूप से सेवक है, सेव्य नहीं है। बहिरंगा शक्ति की दशाओं में मोह-ग्रस्त होने के कारण, वह अपने आपको सेव्य (सेवा कराने योग्य) समझता है, जबकि वास्तव में वह सेव्य होता नहीं; वह तो काम, इच्छा, क्रोध, लोभ, गर्व, उन्मत्तता तथा असहिष्णुता जैसी इच्छाओं का दास होता है। जब वह आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करके अपने होश में आता है, तो वह अनुभव करता है कि वह भौतिक जगत का स्वामी नहीं, अपितु अपनी इन्द्रियों का दास है। उस समय वह भगवत्-सेवा की याचना करता है और तब वह तथाकथित भौतिक सुख के द्वारा मोहग्रस्त हुए बिना सुखी बन जाता है। महाराज युधिष्ठिर मुक्तात्मा थे। अतएव उन्हें विशाल साम्राज्य, उत्तम पत्नी, आज्ञाकारी बन्धुओं, सुखी प्रजा तथा सुसम्पन्न जगत से कोई प्रसन्नता नहीं हो रही थी। शुद्ध भक्त को ये वर स्वतः प्राप्त होते हैं, भले ही वह उनकी कामना न करे। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि भूखे को भोजन के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से सन्तोष नहीं मिलता।

सारा संसार भूखे जीवों से भरा पड़ा है। यह भूख उत्तम भोजन, आश्रय या इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। भूख तो आध्यात्मिक वातावरण के लिए है। अज्ञान-वश ही लोग सोचते हैं कि संसार असंतोष से व्याप्त है, क्योंकि पर्याप्त भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यह

मोह कहलाता है। जब जीव परिलक्षित आध्यात्मिक तृष्टि के लिए भूखा होता है, तो लोगों को उसमें भौतिक भूख दिखती है। लेकिन मूर्ख नेता यह भी नहीं देख पाते कि जो लोग भौतिक दृष्टि से पूरी तरह तृप्त हैं, वे फिर भी भूखे रहते हैं। और उनकी भूख तथा गरीबी है क्या? यह भूख वस्तुतः आध्यात्मिक भोजन, आध्यात्मिक आश्रय, आध्यात्मिक सुरक्षा तथा आध्यात्मिक इन्द्रियतृप्ति के लिए होती है। इन्हें परम आत्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जिनके पास ये वस्तुएँ हैं, वे भौतिक जगत के तथाकथित भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि स्वर्ग के निवासी भी इनका आनन्द उठाते हैं। अतएव *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् ने कहा है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक में भी, जहाँ जीवन अवधि (आयु) पृथ्वी की गणना से कई लाख गुनी होती है, जीव अपनी भूख नहीं बुझा सकता। ऐसी भूख तभी शमित होती है, जब जीव अमरता को प्राप्त होता है, जिसे वैकुण्ठलोक में ही, जो ब्रह्मलोक से भी काफी दूर है, उन भगवान् मुकुन्द के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जो अपने भक्तों को मुक्ति का दिव्य आनन्द प्रदान करनेवाले हैं।

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन ।

ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता के; गर्भ—गर्भ में; गतः—स्थित होकर; वीरः—महान् योद्धा; सः—शिशु परीक्षित; तदा—उस समय; भृगु-नन्दन—हे भृगुपुत्र; ददर्श—देख सका; पुरुषम्—परमेश्वर को; कञ्चित्—मानो कोई दूसरा; दह्यमानः—जलते हुए; अस्त्र—ब्रह्मास्त्र के; तेजसा—ताप से।

हे भृगुपुत्र (शौनक), जब महान् योद्धा बालक परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे और (अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये) ब्रह्मास्त्र के ज्वलंत ताप से पीड़ित थे, तो उन्होंने परमेश्वर को अपनी ओर आते देखा।

तात्पर्य : मृत्यु सामान्यतया सात मास की समाधि है। जीव, अपने कर्म के अनुसार, पिता के वीर्य के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है और वांछित शरीर धारण करके विकसित होता रहता है। विशिष्ट जीवों में अपने-अपने विगत कर्मों के अनुसार जन्म का यह नियम है। जब वह इस समाधि से जागृत होता है, तो उसे गर्भ के भीतर बन्दी रहने में असुविधा का अनुभव होने लगता है और वह उससे

बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और कभी-कभी ऐसी मुक्ति के लिए सौभाग्यवश वह भगवान् से प्रार्थना करता है। जब महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में थे, तो अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र का उन पर प्रहार हुआ, जिससे उन्हें प्रखर ताप का अनुभव हो रहा था। किन्तु उनके भगवद्भक्त होने के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति से गर्भ के भीतर साक्षात् प्रकट हुए और बालक यह देख सका कि कोई उसे बचाने आया है। उस असहाय अवस्था में भी बालक परीक्षित ने असह्य ताप सहन किया, क्योंकि वे स्वभाव से महान् योद्धा थे। इसीलिए यहाँ वीरः शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम् ।

अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अङ्गुष्ठ—अँगूठे की माप का; मात्रम्—केवल; अमलम्—दिव्य; स्फुरत्—देदीप्यमान; पुरट—सोना; मौलिनम्—मुकुट;
अपीव्य—अत्यन्त सुन्दर; दर्शनम्—देखने के लिए; श्यामम्—श्याम रंग; तडित्—बिजली; वाससम्—वस्त्र; अच्युतम्—अच्युत (भगवान्) को।

वे (भगवान्) केवल अँगूठा भर ऊँचे थे, किन्तु वे थे पूर्णतः दिव्य। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, श्याम वर्ण का तथा अच्युत था और उनका वस्त्र बिजली के समान चमचमाता पीतवर्ण का तथा उनका मुकुट देदीप्यमान सोने का था। बालक ने उन्हें इस रूप में देखा।

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।

क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।

परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रीमत्—समृद्ध; दीर्घ—लम्बे; चतुः—बाहुम्—चार भुजाओं वाले; तप्त-काञ्चन—पिघला सोना; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; क्षतज-अक्षम्—रक्त की लालिमा से युक्त आँखें; गदा-पाणिम्—गदा से युक्त हाथ; आत्मनः—अपना; सर्वतः—सभी; दिशम्—चारों ओर; परिभ्रमन्तम्—घूमते हुए; उल्काभाम्—गिरते हुए तारे (उल्का) की भाँति; भ्रामयन्तम्—घुमाते हुए; गदाम्—गदा को; मुहुः—निरन्तर।

भगवान् चार भुजाओं से युक्त थे, उनके कुण्डल सोने के थे तथा आँखें क्रोध से रक्त जैसी लाल थीं। जब वे चारों ओर घूमने लगे, तो उनकी गदा उनके चारों ओर गिरते तारे (उल्का) की भाँति निरन्तर चक्कर लगाने लगी।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (अध्याय ५) में कहा गया है कि परम ईश्वर गोविन्द, अपने एक पूर्ण अंश से, ब्रह्माण्ड-मण्डल में प्रवेश करते हैं और वे अपने आप, परमात्मा-रूप में, न केवल प्रत्येक जीव के हृदय में, अपितु भौतिक तत्त्वों के प्रत्येक परमाणु में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वव्यापी हैं और इस तरह वे अपने प्रिय भक्त महाराज परीक्षित की रक्षा करने के लिए उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हुए। *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् हर एक को आश्चस्त करते हैं कि उनके भक्तों का कभी भी विनाश नहीं होता। कोई भी भगवान् के भक्त को नहीं मार सकता, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं और भगवान् जिसे मारना चाहते हैं, उसे कोई भी बचा नहीं सकता। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। अतएव वे चाहें तो मार भी सकते हैं और बचा भी सकते हैं। वे उस विषम परिस्थिति में (उत्तरा के गर्भ में) भी, अपने भक्त महाराज परीक्षित को ऐसे रूप में दिखाई पड़े, जो उसकी दृष्टि के अनुरूप था। भगवान् हजारों ब्रह्माण्डों से भी वृहत् रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही, परमाणु से भी लघु बन सकते हैं। दयालु तो वे हैं ही, अतएव वे जीव की सीमित दृष्टि के अनुरूप बन जाते हैं। वे असीम हैं। वे हमारी किसी गणना की परिधि से सीमित नहीं हैं। वे हम जितना सोच सकते हैं उससे भी अधिक विशाल और हमारी चिन्तन-शक्ति से भी अधिक लघु बन सकते हैं। किन्तु प्रत्येक दशा में वे वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। उत्तरा के गर्भ में अँगूठे के तुल्य विष्णु में तथा वैकुण्ठधामवासी पूर्ण नारायण रूप में कोई अन्तर नहीं है। वे अपने विभिन्न असमर्थ भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए ही *अर्चाविग्रह* रूप स्वीकार करते हैं। *अर्चाविग्रह* अर्थात् भौतिक तत्त्वों से बने भगवान् के रूप की कृपा से, भौतिक जगत के सारे भक्त सरलता से भगवान् तक पहुँच सकते हैं, यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं। अतएव *अर्चाविग्रह* भगवान् का पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप है, जिसे भौतिक भक्त देख सकते हैं; भगवान् के ऐसे अर्चाविग्रह को कभी भौतिक नहीं माना जाता। यद्यपि बद्धजीवों के लिए पदार्थ तथा आत्मा में काफी अन्तर होता है, किन्तु भगवान् के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् के लिए सारा अस्तित्व केवल आध्यात्मिक है और इसी तरह भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले शुद्ध भक्त के लिए, आध्यात्मिक अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।

विधमन्तं सन्निकर्षे पर्येक्षत क इत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अस्त्र-तेजः—ब्रह्मास्त्र का प्रकाश; स्व-गदया—अपनी गदा से; नीहारम्—ओस के बिन्दु; इव—समान; गोपतिः—सूर्य;
विधमन्तम्—विनष्ट करने की क्रिया; सन्निकर्षे—निकट; पर्येक्षत—देखते हुए; कः—कौन; इति असौ—यह शरीर।

भगवान् उस ब्रह्मास्त्र के तेज को विनष्ट करने में इस प्रकार संलग्न थे, जिस तरह सूर्य ओस की बूंदों को उड़ा देता है। वे बालक को दिखाई पड़े, तो वह सोचने लगा कि वे कौन थे?

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।

मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विधूय—पूरी तरह विनष्ट करके; तत्—वह; अमेयात्मा—सर्वव्यापी परमात्मा; भगवान्—भगवान्; धर्म-गुप्—सदाचार के रक्षक; विभुः—परम; मिषतः—निरीक्षण करते हुए; दशमासस्य—जो समस्त दिशाओं के द्वारा वस्त्रावृत हैं, उनका; तत्र एव—तत्क्षण; अन्तः—अदृश्य; दधे—हो गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार बालक के देखते-देखते, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा धर्म के पालक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जो सारी दिशाओं में व्याप्त हैं और काल तथा देश की सीमाओं से परे हैं, तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : बालक परीक्षित कोई ऐसे जीव को नहीं देख रहा था, जो देश तथा काल से बँधा रहता है। भगवान् तथा जीव में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। यहाँ पर भगवान् को जो देश-काल की सीमाओं से परे हैं ऐसे परम पुरुष बताया गया है। प्रत्येक जीव देश तथा काल से सीमित है। यद्यपि गुणात्मक रीति से जीव भगवान् से अभिन्न है, लेकिन मात्रात्मक दृष्टि से परमात्मा तथा सामान्य जीवात्मा में काफी अन्तर होता है। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सर्वव्यापी कहा गया है (*येन सर्वमिदं ततम्*), फिर भी इन दोनों के सर्वव्यापकत्व में अन्तर होता है। सामान्य जीव या आत्मा, अपने खुद के शरीर में ही सर्वव्यापी हो सकता है, किन्तु परमात्मा समस्त देश तथा काल में व्याप्त है। कोई भी सामान्य जीव अपने सर्वव्यापकत्व से दूसरे जीव को प्रभावित नहीं कर सकता, लेकिन परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् असीम रूप से समस्त स्थानों तथा समस्त कालों एवं समस्त जीवों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, देश तथा काल से परे हैं, अतएव वे बालक

परीक्षित की माता के गर्भ के भीतर भी प्रकट हो सकते हैं। यहाँ पर उन्हें धर्मपालक कहा गया है। जो भी भगवान् के शरणागत हो चुका है, वह धर्मात्मा है और उसका विशेष रूप से भगवान् द्वारा सभी परिस्थितियों में रक्षण किया जाता है। भगवान् परोक्ष रूप से अधर्मियों के भी रक्षक हैं, क्योंकि वे अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा उनके पापों को परिशोधित करते हैं। यहाँ पर भगवान् को दशों दिशाओं से वस्त्रावृत कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दशों दिशाओं में ऊपर तथा नीचे वस्त्रों से आभूषित हैं। वे सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और स्वेच्छा से कहीं भी प्रकट तथा अन्तर्धान हो सकते हैं। बालक परीक्षित की दृष्टि से उनके ओझल होने का यह अर्थ नहीं है कि वे किसी अन्य स्थान से आकर वहाँ प्रकट हुए थे। वे वहीं विद्यमान थे और उनके अन्तर्धान होने के बाद भी वे वहीं थे। हाँ, वे बालक की आँखों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। इस तेजोमय आकाश का भौतिक आवरण भी माता प्रकृति के गर्भ की ही भाँति है और हम सभी जीवों के पिता, भगवान्, द्वारा उस गर्भ में स्थापित किये गये हैं। वे सर्वत्र विद्यमान हैं, यहाँ तक कि माता दुर्गा के भौतिक गर्भ में भी और जो इसके लिए सुयोग्य हैं, वे भगवान् का दर्शन कर सकते हैं।

ततः सर्वगुणोदके सानुकूलग्रहोदये ।

जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सर्व—सभी; गुण—शुभ लक्षण; उदके—क्रमशः विकसित होने पर; स-अनुकूल—सभी अनुकूल; ग्रहोदये—नक्षत्रों का समूह; जज्ञे—जन्म लिया; वंश-धरः—उत्तराधिकारी; पाण्डोः—पाण्डु के; भूयः—होते हुए; पाण्डुः इव—पाण्डु के समान; ओजसा—पराक्रम से।

तत्पश्चात्, जब क्रमशः सारी राशि तथा नक्षत्रों से शुभ लक्षण प्रकट हो आये, तब पाण्डु के उत्तराधिकारी ने जन्म लिया, जो पराक्रम में उन्हीं के समान होगा।

तात्पर्य : जीव पर ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव कोरी कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता है जैसा कि श्रीमद्भागवत में पुष्टि हो रही है। प्रत्येक जीव, हर क्षण प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता रहता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार नागरिक राज्य द्वारा नियंत्रित होता है। राज्य के नियमों का पालन स्थूल रूप से होता है, लेकिन प्रकृति के नियम हमारी मोटी बुद्धि के लिए सूक्ष्म होने के कारण स्थूल रूप से अनुभव नहीं किये जा सकते हैं। जैसा कि भगवद्गीता (३.९) में कहा गया है—जीवन के प्रत्येक कर्म

से प्रतिक्रिया (फल) उत्पन्न होती है, जो हम पर बन्धन-स्वरूप होती है और केवल वे कर्म जो यज्ञ (विष्णु) के लिए किये जाते हैं, वे फलों से बद्ध नहीं होते। हमारे कर्मों का निर्णय उच्च अधिकारियों अर्थात् भगवान् के दूतों द्वारा होता है और इस तरह हमें अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। प्रकृति का नियम इतना सूक्ष्म है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग पर उन्हीं ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है और जीव को यह क्रियाशील शरीर इसीलिए प्राप्त होता है कि वह ऐसे ग्रह-नक्षत्रों के प्रभावों को साध कर, अपनी कारागार-अवधि को पूरा कर सके। अतएव मनुष्य का भाग्य उसके जन्म-काल के ग्रह-नक्षत्रों द्वारा निर्धारित होता है और विद्वान् ज्योतिषी उसकी तथ्यपरक कुण्डली तैयार करता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु यदि इसका दुरुपयोग होता है, तो इससे यह निरर्थक नहीं बन जाता। महाराज परीक्षित या कि भगवान् भी किसी शुभ नक्षत्र राशि में प्रकट होते हैं और इस शुभ क्षण में जन्म लेने वाले शरीर पर इन नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। सबसे शुभ नक्षत्र वह है, जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं और इसे *जयन्ती* कहते हैं। इस शब्द का किसी भी अन्य बात के लिए दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। महाराज परीक्षित केवल एक महान् क्षत्रिय सम्राट ही न थे, अपितु महान् भगवद्भक्त भी थे। अतएव वे किसी भी अशुभ क्षण में जन्म नहीं ले सकते थे। जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का स्वागत उचित स्थान तथा उचित समय पर किया जाता है, उसी प्रकार, भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के स्वागतार्थ ऐसा उपयुक्त क्षण चुना गया था, जब सारे शुभ ग्रह एकत्र होकर राजा पर अपना प्रभाव डाल सकें। इस तरह उनका जन्म हुआ और वे *श्रीमद्भागवत* के महान् नायक कहलाये। नक्षत्रों का यह संयोग मनुष्य की इच्छा से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो परमेश्वर की महती व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। निस्सन्देह, जीव के शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार ही, यह व्यवस्था की जाती है। यहीं जीव द्वारा सम्पन्न शुभ कर्मों की महत्ता प्रकट होती है। केवल शुभ कर्मों के द्वारा ही, जीव को उत्तम सम्पत्ति, उत्तम शिक्षा तथा सुन्दर स्वरूप प्राप्त हो सकता है। नक्षत्रों के शुभ प्रभावों के लिए समुचित वातावरण तैयार करने में, सनातन धर्म मनुष्य का शाश्वत कर्तव्य सम्प्रदाय के संस्कार अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होते हैं। अतएव उच्च वर्णों (द्विजों) के लिए संस्तुत गर्भाधान संस्कार समस्त शुभ कर्मों का शुभारंभ है, जिससे मानव समाज में अत्यन्त पवित्र तथा बुद्धिमान श्रेणी के मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उत्तम तथा योग्य जनता के द्वारा ही विश्व में

शान्ति तथा समृद्धि आएगी; अवांछित तथा विषयभोग में लिप्त रहनेवाली अयोग्य प्रजा से अशान्ति फैलेगी और यह संसार नरक बना रहेगा।

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।

जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रीत-मना:—सन्तुष्ट; राजा—राजा युधिष्ठिर; विप्रैः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; धौम्य—धौम्य; कृप—कृप;
आदिभिः—इत्यादि; जातकम्—शिशु-जन्म के तुरन्त बाद सम्पन्न होनेवाला संस्कार; कारयाम् आस—सम्पन्न किया;
वाचयित्वा—बाँच कर; च—भी; मङ्गलम्—शुभ।

महाराज परीक्षित के जन्म से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए राजा युधिष्ठिर ने जात-संस्कार करवाया।

धौम्य, कृप इत्यादि विद्वान् ब्राह्मणों ने शुभ स्तोत्रों का पाठ किया।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म में वर्णित संस्कारों को सम्पन्न कराने में निपुण हो ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान् ब्राह्मणों की आवश्यकता है। जब तक ये संस्कार सम्पन्न नहीं कराये जाते, तब तक अच्छी सन्तान की सम्भावना नहीं है और इस कलियुग में, इस संस्कार विधि के अभाव में, सारे संसार की जनता शूद्र गुण वाली या इससे भी निम्न होती है। किन्तु समुचित सुविधाओं तथा उत्तम ब्राह्मणों के अभाव के कारण, इस युग में वैदिक संस्कारों का पुनरुद्धार कर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन इस युग के लिए अन्य पद्धति भी संस्तुत है और वह है पाञ्चरात्रिक पद्धति। यह पाञ्चरात्रिक पद्धति शूद्र श्रेणी के लोगों पर लागू की जाती है, जो कलियुग की प्रजा मानी जाती है और युग तथा काल के अनुरूप संस्तुत की जानेवाली यही संस्कार-विधि है। किन्तु यह संस्कार-विधि केवल आध्यात्मिक विकास के निमित्त है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। आध्यात्मिक उन्नति कभी उच्च या निम्न पैतृकता से नियंत्रित नहीं होती।

गर्भाधान संस्कार के बाद अन्य संस्कार भी होते हैं—यथा सीमान्तोन्नयन, सध-भक्षणम् इत्यादि जो गर्भावस्था-काल में सम्पन्न होते हैं और जब शिशु का जन्म होता है, तो सबसे पहला संस्कार जातकर्म है। यह संस्कार महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजपुरोहित धौम्य तथा महान् सेनापति एवं पुरोहित कृपाचार्य-जैसे योग्य ब्राह्मणों की सहायता से सम्पन्न कराया गया। महाराज युधिष्ठिर ने इन दोनों विद्वान् तथा योग्य पुरोहितों की सहायता के लिए तमाम उत्तम ब्राह्मणों को लगाकर यह उत्सव सम्पन्न कराया। अतएव सारे संस्कार अर्थात् शुद्धीकरण की विधियाँ मात्र औपचारिकताएँ या सामाजिक उत्सव हीं नहीं, अपितु

ये व्यवहारणीय हैं और धौम्य तथा कृप जैसे योग्य ब्राह्मणों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न कराए जाते हैं। इस युग में ऐसे ब्राह्मण न केवल विरले हैं, अपितु उपलब्ध भी नहीं होते। अतएव इस पतित युग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए गोस्वामीजन वैदिक अनुष्ठानों की अपेक्षा पाञ्चरात्रिक सूत्रों को वरीयता प्रदान करते हैं।

कृपाचार्य महर्षि सर्दबन के पुत्र थे और गौतम के वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म एक अकस्मात घटना कही जाती है। संयोगवश महर्षि सर्दबन की भेंट जनपदी नामक स्वर्ग की एक सुप्रसिद्ध अप्सरा से हुई, तो सर्दबन का वीर्य दो भागों में बँट गया। एक भाग तुरन्त बालक बन गया और दूसरा बालिका। इस प्रकार जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हुए—बालक कृप नाम से और बालिका कृपी नाम से विख्यात हुई। महाराज शान्तनु को जंगल में शिकार करते समय, ये शिशु मिले और घर लाकर, संस्कार कराकर, उन्हें ब्राह्मण-पद प्रदान किया। बाद में कृपाचार्य द्रोणाचार्य के समान महान् सेनापति बने और उसकी बहन कृपी, द्रोणाचार्य को ब्याह दी गई। कालान्तर में कृपाचार्य कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्मिलित हुए और दुर्योधन के दल में चले गये। कृपाचार्य, महाराज परीक्षित के पिता अभिमन्यु को मारने में सहायक बने, किन्तु द्रोणाचार्य के ही समान महान् ब्राह्मण होने के कारण, वे अभी भी पाण्डव-कुल द्वारा सम्मानित थे। जब दुर्योधन से द्यूत-क्रीड़ा में हारकर पाण्डव वन चले गये, तो धृतराष्ट्र ने उनके मार्गदर्शन के लिए कृपाचार्य को नियुक्त किया। युद्ध समाप्त होने पर कृपाचार्य पुनः राजसभा के सदस्य बन गये और महाराज परीक्षित के जन्म के समय जन्मोत्सव को सफल बनाने के लिए उन्हें वेद मंत्रोच्चार करने के लिए आमंत्रित किया गया। जब महाराज युधिष्ठिर जब राजप्रासाद त्यागकर हिमालय के लिए महाप्रयाण करने लगे तब वे महाराज परीक्षित को शिष्य-रूप में कृपाचार्य को ही सौंप गये और उन्होंने सन्तुष्ट होकर घर का त्याग किया, क्योंकि महाराज परीक्षित का भार कृपाचार्य ने संभाल लिया था। बड़े-बड़े शासक, राजा तथा सम्राट तक, कृपाचार्य-जैसे विद्वान ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहते हुए समुचित रूप से राजनैतिक उत्तरदायित्व निभाते थे।

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वाः पतिर्वरान् ।
प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; गाम्—गाँवें; महीम्—भूमि; ग्रामान्—गाँव; हस्ति—हाथी; अश्वान्—घोड़े; नृपतिः—राजा ने; वरान्—पुरस्कार; प्रादात्—दान में दिया; सु-अन्नम्—उत्तम अन्न; च—तथा; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; प्रजा-तीर्थ—पुत्र के जन्म-दिवस पर दान देते समय; सः—वह; तीर्थ-वित्—जो जानता है कि कब, कैसे और किसे दान दिया जाय।

पुत्र के जन्म लेने पर राजा ने ब्राह्मणों को सोना, भूमि, ग्राम, हाथी, घोड़े तथा उत्तम अन्न दान में दिया, क्योंकि वे जानते थे कि कैसे, कहाँ और कब दान देना चाहिए।

तात्पर्य : केवल ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को गृहस्थियों से दान ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। समस्त संस्कारों के विभिन्न अवसरों पर, विशेष रूप से जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संस्कारों के समय, ब्राह्मणों को धन वितरित किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण ही मानव जाति की प्राथमिक आवश्यकता के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा प्रदान करते हैं। इन अवसरों पर स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा अन्न के साथ समस्त भोज्य सामग्री के रूप में प्रचुर दान दिया जाता था। अतएव ब्राह्मण वास्तव में निर्धन नहीं होते थे, उल्टे, उनके पास प्रचुर सोना, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा पर्याप्त अन्न रहता था, जिससे उन्हें कुछ और कमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके बदले में, वे सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर देते थे।

तीर्थवित् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राजा को पता था कि कहाँ और कब दान दिया जाय। दान कभी व्यर्थ नहीं जाता, न वह निरुद्देश्य होता है। शास्त्रों के अनुसार, दान उन व्यक्तियों को दिया जाता था, जो अपनी आध्यात्मिक प्रबुद्धता के बल पर दान लेने के पात्र होते थे। तथाकथित दरिद्र-नारायण, जो अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा परम भगवान् के बारे में फैलायी गयी एक भ्रान्त धारणा है, उसका उल्लेख दान के सुपात्र के रूप में शास्त्रों में कभी भी नहीं मिलता है। कोई भी दरिद्र व्यक्ति घोड़े, हाथी, भूमि तथा ग्रामों के रूप में, इतना मुक्तहस्त दान नहीं पा सकता था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्तियों, या भगवान् की सेवा में लगे हुए ब्राह्मणों का इस तरह पालन होता था कि उन्हें शरीर की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं रहती थी तथा राजा एवं अन्य गृहस्थ, खुशी-खुशी उनके सुख का ध्यान रखते थे।

शास्त्रों का आदेश है कि जब तक शिशु नाल द्वारा माता से जुड़ा रहता है, तब तक शिशु तथा माता के शरीर का एक भाग माना जाता है, किन्तु ज्योंही नाल काट दी जाती है और शिशु माता से विलग हो जाता है, त्योंही जात-कर्म संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नवजात शिशु को देखने के लिए प्रशासी

देवता (लोकपाल) एवं परिवार के पूर्व-पुरखे आते हैं और समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए उचित व्यक्तियों को धन वितरित करने के लिए इस अवसर को समुचित माना जाता है।

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ऊचुः—सम्बोधित किया; ब्राह्मणाः—विद्वान् ब्राह्मणों ने; तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; राजानम्—राजा को; प्रश्रय-
अन्वितम्—अत्यधिक कृतज्ञता ज्ञापित करके; एषः—यह; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—की शृंखला में; प्रजा-तन्तौ—परम्परा में;
पुरूणाम्—पुरुओं की; पौरव-ऋषभ—पुरुओं में प्रमुख।

राजा के दान से अत्यधिक सन्तुष्ट विद्वान् ब्राह्मणों ने राजा को पुरुओं में प्रधान कहकर सम्बोधित किया और बताया कि उनका पुत्र निश्चय ही पुरुओं की परम्परा में है।

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—अतिदैवी शक्ति द्वारा; अप्रतिघातेन—दुर्निवार; शुक्ले—शुद्ध; संस्थाम्—विनाश को; उपेयुषि—विवश किये जाने पर;
रातः—फिर रक्षित; वः—तुम्हारे लिए; अनुग्रह-अर्थाय—अनुग्रह करने के लिए; विष्णुना—सर्वव्यापी भगवान् द्वारा;
प्रभविष्णुना—सर्वशक्तिमान द्वारा।

ब्राह्मणों ने कहा : यह निष्कलंक पुत्र, आप पर अनुग्रह करने के लिए सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी भगवान् विष्णु द्वारा बचाया गया है। उसे तब बचाया गया, जब वह दुर्निवार अतिदैवी अस्त्र द्वारा नष्ट होने ही वाला था।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी विष्णु (भगवान् कृष्ण) द्वारा शिशु परीक्षित को दो कारणों से बचा लिया गया था। पहला कारण यह था कि भगवान् का विशुद्ध भक्त होने के कारण अपनी माता के गर्भ में यह शिशु निष्कलंक था। दूसरा कारण यह था कि यह शिशु पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर के पवित्र पूर्वज, पुरु के वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी था। भगवान् चाहते हैं कि पवित्र राजाओं की परम्परा चलती रहे, जिससे वे शान्तिमय तथा सम्पन्न जीवन की वास्तविक प्रगति के लिए उनके प्रतिनिधियों के रूप में पृथ्वी पर राज्य करें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, महाराज युधिष्ठिर की अगली पीढ़ी तक विनष्ट हो चुकी थी और उस महान् राजवंश में कोई ऐसा न था, जो दूसरा पुत्र उत्पन्न कर

सके। अभिमन्यु-पुत्र, महाराज परीक्षित ही परिवार के एकमात्र जीवित उत्तराधिकारी थे और अश्वत्थामा के दुर्निवार ब्रह्मास्त्र द्वारा उनका भी विनाश होनेवाला था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है और यह महत्त्वपूर्ण भी है। आदि भगवान् श्रीकृष्ण, अपने विष्णु-रूप में रक्षा तथा संहार का कार्य करते हैं और विष्णु उनके पूर्णांश हैं। भगवान् कृष्ण के सारे सर्वव्यापी कार्यकलाप उनके विष्णु-रूप द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। शिशु परीक्षित को यहाँ पर निष्कलंक श्वेत कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे। भगवान् के ऐसे अनन्य भक्त इस धरा पर भगवान् के कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही प्रकट होते हैं। भगवान् चाहते हैं कि भौतिक सृष्टि के आगे-पीछे मँडरानेवाले बद्धजीवों का उद्धार हो, जिससे वे भगवद्धाम वापस आ सकें। इस तरह भगवान् वेदों जैसा दिव्य साहित्य निर्मित करके, सन्तों तथा साधुओं को दूत के रूप में भेजकर तथा अपना प्रतिनिधि अर्थात् गुरु नियुक्त करके, उनकी सहायता करते हैं। ऐसा दिव्य साहित्य, ऐसे दूत तथा भगवान् के ऐसे प्रतिनिधि निष्कलुष श्वेत होते हैं, क्योंकि भौतिक गुणों का कल्मष उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता। जब भी उन्हें विनाश का संकट आता है, तो भगवान् सदैव उनकी रक्षा करते हैं। ऐसे मूर्खतापूर्ण संकट निपट भौतिकतावादी पुरुषों द्वारा ढाये जाते हैं। अश्वत्थामा ने बालक परीक्षित पर जिस ब्रह्मास्त्र को छोड़ा था, वह निश्चित रूप से अतिदैवी शक्ति से पूर्ण था और भौतिक जगत की कोई भी वस्तु उसकी भेदन-शक्ति को रोकने में समर्थ न थी। किन्तु सर्वत्र विद्यमान, सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा अपने प्रामाणिक सेवक तथा अपनी अहैतुकी कृपा से सदैव अनुग्रहीत अपने और एक भक्त महाराज युधिष्ठिर के वंशज को बचाने के लिए उसे रोकने में समर्थ हुए।

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति ।

न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नाम्ना—नामवाले; विष्णु-रातः—भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित; इति—इस प्रकार; लोके—समस्त लोकों में; भविष्यति—विख्यात होगा; न—नहीं; सन्देहः—सन्देह; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; महा-भागवतः—प्रथम कोटि का भगवद्भक्त; महान्—समस्त उत्तम गुणों से समन्वित।

इस कारण यह बालक संसार में विष्णुरात (भगवान् द्वारा रक्षित) नाम से विख्यात होगा। हे महा भाग्यशाली, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक महाभागवत (उत्तम कोटि का भक्त) होगा और समस्त गुणों से सम्पन्न होगा।

तात्पर्य : भगवान् समस्त जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि वे उनके सर्वोपरि नेता हैं। वैदिक स्तोत्र इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त पुरुषों में परम पुरुष हैं। इन दोनों व्यक्तियों में अन्तर यह है कि इनमें से एक, अर्थात् भगवान्, अन्य समस्त जीवों का पालन करनेवाले हैं और उन्हें जान लेने से ही शाश्वत शान्ति प्राप्त की जा सकती है (कठोपनिषद्)। ऐसी सुरक्षा उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न कोटि के जीवों को प्रदान की जाती है। किन्तु जहाँ तक उनके अनन्य भक्तों का सम्बन्ध है, वे व्यक्तिगत रूप से उन्हें सुरक्षा प्रदान करते हैं। अतएव महाराज परीक्षित की रक्षा अपनी माता के गर्भ में प्रकट होते ही, भगवान् द्वारा शुरू हो गई थी। चूँकि उनकी भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षा की गई थी, अतएव इससे संकेत मिलता था कि यह बालक समस्त उत्तम गुणों से समन्वित महाभागवत निकलेगा। भक्तों की तीन कोटियाँ हैं—महाभागवत, मध्यम अधिकारी तथा कनिष्ठ अधिकारी। ऐसे भक्त जो भगवान् के मन्दिर जाते हैं और आध्यात्मिक विज्ञान में पर्याप्त ज्ञान न होते हुए भी और इस तरह भगवान् के भक्तों के लिए किसी प्रकार का आदर न दिखाकर, अर्चाविग्रह की पूजा करके नमस्कार करते हैं, वे भौतिकतावादी भक्त या कनिष्ठ अधिकारी अर्थात् तृतीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। दूसरे भक्त वे हैं, जिन्होंने भगवान् की शुद्ध सेवा की चितवृत्ति विकसित कर ली है और इस तरह वे अपने जैसे भक्तों के साथ मैत्री स्थापित करते हैं, नवदीक्षितों का पक्ष ग्रहण करते हैं और नास्तिकों से बचते हैं, वे द्वितीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। किन्तु जो लोग भगवान् में सारी वस्तुएँ देखते हैं या प्रत्येक वस्तु को भगवान् की समझते हैं और प्रत्येक वस्तु में भगवान् का नित्य सम्बन्ध देखते हैं, जिससे उन्हें भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता, वे महाभागवत या प्रथम कोटि के भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवान् के ऐसे प्रथम कोटि के भक्तगण सभी प्रकार से पूर्ण होते हैं। इन कोटियों के अन्तर्गत कोई भी भक्त स्वतः सर्व गुणों से सम्पन्न रहता है और इस तरह महाराज परीक्षित जैसा महाभागवत सभी प्रकार से पूर्ण होता है। चूँकि महाराज परीक्षित का जन्म महाराज युधिष्ठिर के कुल में हुआ था, इसीलिए उन्हें महाभागवत कहकर सम्बोधित किया गया है। जिस परिवार में

महाभागवत जन्म लेता है, वह भाग्यशाली होता है, क्योंकि ऐसे प्रथम कोटि के भक्त के जन्म से, भगवत्कृपा से, परिवार की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सौ पीढ़ियों के लोग मुक्त हो जाते हैं। अतएव भगवान् का अनन्य भक्त बनने मात्र से परिवार को सबसे बड़ा लाभ पहुँचाया जाता है।

श्रीराजोवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः ।

अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—सर्वमंगलकारी राजा (महाराज युधिष्ठिर) ने; उवाच—कहा; अपि—क्या; एषः—इस; वंश्यान्—परिवार में; राज-
ऋषीन्—साधु राजाओं का; पुण्य-श्लोकान्—नाम से ही पवित्र; महा-आत्मनः—सभी महान् पुरुष; अनुवर्तिता—अनुयायी;
स्वित्—ऐसा होगा; यशसा—उपलब्धियों से; साधु-वादेन—महिमान्वित होने से; सत्-तमाः—हे महान् आत्माओ!

उत्तम राजा (युधिष्ठिर) ने पूछा: हे महात्माओं, क्या यह बालक इस महान् राजवंश में प्रकट हुए अन्य राजाओं की ही तरह राजर्षि, पवित्र नामवाला, उतना ही विख्यात तथा अपनी उपलब्धियों से महिमामंडित होगा?

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर के पूर्वज राजर्षि, पुण्यात्मा तथा अपनी महान् उपलब्धियों से महिमामण्डित थे। वे राज-सिंहासन पर बैठकर भी संत थे। फलस्वरूप राज्य के सारे सदस्य सुखी, पुण्यात्मा, सदाचारी, सुसम्पन्न तथा आध्यात्मिकता में प्रबुद्ध थे। ऐसे महान् साधु राजा महात्माओं तथा आध्यात्मिक आदेशों के कठोर मार्गदर्शन में प्रशिक्षित थे। फलस्वरूप, राज्य साधु पुरुषों से परिपूर्ण रहता था और आध्यात्मिक जीवन सुखमय होता था। महाराज युधिष्ठिर स्वयं अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति थे और उनकी यह अभिलाषा थी कि उनके बाद जो भी राजा हो, वह उनके महान् पूर्वजों के समान हो। वे विद्वान् ब्राह्मणों से यह जानकर प्रसन्न थे कि ज्योतिष-गणना के अनुसार, नवजात शिशु महाभागवत होगा और वे व्यक्तिगत रूप से यह जानने के इच्छुक थे कि बालक अपने महान् पूर्वजों का अनुगमन करनेवाला होगा या नहीं। यही राज-तंत्र की शैली है। शासन चलाने वाले राजा को पुण्यात्मा, उदार भगवद्भक्त तथा छिछोरों के लिए साक्षात् भय होना चाहिए। उसे अबोध जनता के ऊपर राज्य करने के लिए समान रूप से योग्य उत्तराधिकारी भी छोड़ जाना चाहिए। आज के लोकतांत्रिक ढाँचे में, सारे लोग शूद्र के गुणों या उससे भी अधम गुणों तक पतित हो चुके हैं और इन्हीं के प्रतिनिधि द्वारा

सरकार चलाई जाती है, जो प्रशासनिक शिक्षा की शास्त्रीय शैली से अनजान होता है। इस प्रकार सारा वातावरण शूद्र-गुणों से व्याप्त हो जाता है, जो काम तथा लोभ के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसे प्रशासक प्रतिदिन आपस में लड़ते रहते हैं। प्रायः दलों तथा समूहों के स्वार्थ के कारण मंत्रिमण्डल में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु-पर्यन्त राज्य के संसाधनों का दोहन करते रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति राजनैतिक जीवन से तब तक निवृत्ति नहीं ले लेता, जब तक उसे ठोकर मार कर बाहर नहीं कर दिया जाता। भला ऐसे निम्न कोटि के लोग जनता का कल्याण कैसे कर सकते हैं? इसी का परिणाम है भ्रष्टाचार, चालबाजी तथा पाखण्ड। उन्हें विभिन्न पदों का भार सँभालने के पूर्व, *श्रीमद्भागवत* से यह सीखना चाहिए कि आदर्श प्रशासक कैसा हो।

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।

ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—उत्तम ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; पार्थ—हे पृथा (कुन्ती) पुत्र; प्रजा—जन्म धारण करनेवाले; अविता—पालक; साक्षात्—प्रत्यक्ष; इक्ष्वाकुः इव—राजा इक्ष्वाकु की तरह; मानवः—मनुपुत्र; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों का अनुयायी तथा आदर करनेवाला; सत्य-सन्धः—वचन का पक्का; च—भी; रामः—भगवान् राम; दाशरथिः—महाराज दशरथ के पुत्र; यथा—जिस तरह।

विद्वान् ब्राह्मणों ने कहा : हे पृथापुत्र, यह बालक मनु-पुत्र, राजा इक्ष्वाकु की ही तरह समस्त जीवों का पालन करनेवाला होगा। और जहाँ तक ब्राह्मणीय सिद्धान्तों के पालन की बात है, विशेष रूप से अपने वचन का पालन करने में, यह महाराज दशरथ के पुत्र भगवान् राम जैसा (दृढ़ प्रतिज्ञ) होगा।

तात्पर्य : प्रजा का अर्थ है इस भौतिक जगत में जन्म लेनेवाला जीव। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, लेकिन भगवान् की सेवा से विलग होने एवं भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप, उसे अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है। ऐसा होने से, वह जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हो जाता है और *उसका भौतिक शरीर उसके कर्म के अनुसार बदलता रहता है*। इस प्रकार जीव ८४,००,००० योनियों में देहान्तर करता रहता है। किन्तु भगवान् का अंश होने के कारण, भगवान् न केवल उसके जीवन की

सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका पालन करते हैं, अपितु स्वयं तथा अपने प्रतिनिधियों, राजर्षियों द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। ये राजर्षि, समस्त प्रजा अथवा जीवों को जीवित रहने तथा उन्हें दिये गये बन्दी जीवन को पूरा करने के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित वास्तव में एक आदर्श राजर्षि थे, क्योंकि एक बार जब वे अपने राज्य का दौरा कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि साक्षात् कलि एक बेचारी गाय को मारने जा रहा था। उन्होंने उसे तुरन्त बधिक करार करते हुए दण्डित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि साधुचरित शासकों द्वारा पशुओं तक को संरक्षण दिया जाता था, जो किसी भावावेश के कारण नहीं था, अपितु इसलिए था कि जिन्होंने इस भौतिक संसार में जन्म लिया है, उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। सारे साधु राजा, सूर्य ग्रह के राजा से लेकर पृथ्वी के राजा तक, वैदिक साहित्य के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। वैदिक साहित्य की शिक्षा उच्चतर ग्रहों में भी दी जाती है, जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१) में भगवान् द्वारा सूर्यदेव (विवस्वान्) को उपदेश देने का प्रसंग मिलता है। ऐसी शिक्षाएँ गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा चलती रहती हैं, क्योंकि सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु को शिक्षा दी, फिर मनु ने महाराज इक्ष्वाकु को शिक्षा दी। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और यहाँ पर जिस मनु का उल्लेख हुआ है, वे सातवें मनु हैं, जो *प्रजापतियों* में से एक हैं और वे सूर्यदेव के पुत्र हैं। वे वैवस्वत मनु कहलाते हैं। उनके दस पुत्र थे और महाराज इक्ष्वाकु उन्हीं में से एक थे। महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता मनु से, *भगवद्गीता* में बताये गये भक्तियोग को भी सीखा। मनु ने इसे अपने पिता सूर्यदेव से प्राप्त किया था। बाद में, महाराज इक्ष्वाकु के बाद, *भगवद्गीता* की शिक्षा परम्परा द्वारा चलती रही, किन्तु कालक्रम से यह शृंखला पाखण्डियों द्वारा छिन्न कर दी गई। अतएव कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को फिर से इसकी शिक्षा दी गई। इस तरह सारा वैदिक साहित्य, सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है और *अपौरुषेय* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि वह मनुष्य द्वारा रचित नहीं है। वैदिक ज्ञान का प्रवचन भगवान् द्वारा किया गया और ब्रह्माण्ड के सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा ने सबसे पहले इसे सुना।

महाराज इक्ष्वाकु—ये वैवस्वत मनु के पुत्रों में से एक थे। इनके १०० पुत्र थे। उन्होंने मांसाहार को प्रतिबन्धित किया। उनकी मृत्यु के बाद उनका पुत्र शशाद् राजा बना।

मनु—इस श्लोक में जिन मनु का उल्लेख इक्ष्वाकु के पिता के रूप में हुआ है, वे सातवें मनु, वैवस्वत मनु अर्थात् सूर्यदेव विवस्वान् के पुत्र थे, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के पूर्व *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था। समस्त मानव जाति मनु के वंशज हैं। इन वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे, जिनके नाम थे इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, पृषध्र तथा वसुमान। भगवान् का मत्स्य-अवतार वैवस्वत मनु के प्रारम्भ में हुआ था। उन्होंने अपने पिता, सूर्यदेव विवस्वान् से *भगवद्गीता* के नियमों की शिक्षा प्राप्त की और इसे उन्होंने अपने पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को प्रदान किया। त्रेतायुग के प्रारम्भ में, सूर्यदेव ने मनु को भक्तिमय सेवा का पाठ पढ़ाया और मनु ने सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण हेतु इक्ष्वाकु को भक्ति की शिक्षा दी।

भगवान् राम—पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् ने साक्षात् श्रीराम के रूप में, अपने विशुद्ध भक्त, अयोध्या के राजा महाराज दशरथ का पुत्रत्व स्वीकार करके स्वयं अवतार लिया। भगवान् राम अपने पूर्ण अंशों के समेत अवतरित हुए और वे सब उनके छोटे भाइयों के रूप में प्रकट हुए। भगवान् त्रेतायुग में, चैत्रमास में शुक्ल पक्ष की नवमी को, हमेशा की तरह धर्म की स्थापना करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित हुए। अभी वे तरुण ही थे कि उन्होंने सुबाहु को मारकर तथा नैतिक कार्यों में बाधा डालनेवाली राक्षसी मारीचा का वध करके विश्वामित्र की सहायता की। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का कार्य जन-कल्याण के लिए एक-दूसरे से सहयोग करने का होता है। ब्राह्मण मुनि अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा लोगों को प्रबुद्ध करते हैं और क्षत्रिय उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् रामचन्द्र मानवता की उत्कृष्टतम संस्कृति के, जिसे *ब्रह्मण्य धर्म* कहते हैं, पालन तथा संरक्षण के लिए आदर्श राजा हैं। वे विशेष रूप से गायों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं, अतएव वे जगत की सम्पन्नता को बढ़ानेवाले हैं। उन्होंने प्रशासक देवताओं को विश्वामित्र के माध्यम से असुरों को जीतने के लिए प्रभावशाली अस्त्र प्रदान किये। वे राजा जनक के धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे और शिवजी के अजेय धनुष को तोड़कर, महाराज जनक की पुत्री सीतादेवी के साथ ब्याह किया।

विवाह के बाद उन्होंने अपने पिता महाराज दशरथ के आदेश से चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। देवताओं के प्रशासन में सहायता करने के लिए, उन्होंने चौदह हजार असुरों का बध किया। रावण ने, असुरों की चाल से, उनकी पत्नी सीतादेवी का अपहरण किया। उन्होंने सुग्रीव से मैत्री

स्थापित की और उसके भाई वालि को मारने में सहायता की। भगवान् राम की सहायता से सुग्रीव वानरों का राजा बना। भगवान् ने हिन्द महासागर में पत्थरों का तैरता हुआ एक सेतु बनाया और सीता के अपहरणकर्ता रावण के राज्य लंका में पहुँचे। तत्पश्चात् उन्होंने रावण का वध किया और लंका के सिंहासन पर रावण के भाई विभीषण को बैठाया। यद्यपि विभीषण राक्षस रावण का भाई था, किन्तु भगवान् राम ने उसे अपने वर से अमर बना दिया। चौदह वर्ष बीतने पर लंका का निपटारा करके, भगवान् पुष्पक विमान द्वारा अपने राज्य अयोध्या लौट आये। उन्होंने अपने भाई शत्रुघ्न को आदेश दिया कि मथुरा पर शासन चलानेवाले असुर लवणासुर पर आक्रमण करे। उन्होंने उस असुर का वध किया। उन्होंने दस *अश्वमेध यज्ञ* सम्पन्न किये और बाद में वे सरयू नदी में स्नान करते-करते अन्तर्धान हो गये। *रामायण* नामक महाकाव्य इस संसार में भगवान् राम की लीलाओं का इतिहास है और प्रामाणिक *रामायण* का लेखन महाकवि वाल्मीकि द्वारा सम्पन्न हुआ।

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।

यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह बालक; दाता—दानी; शरण्यः—शरणागतों का रक्षक; च—तथा; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; औशीनरः—उशीनर नामक देश का; शिबिः—शिबि; यशः—यश; वितनिता—फैलानेवाला; स्वानाम्—स्वजनों का; दौष्यन्तिः इव—दुष्यन्त के पुत्र भरत की तरह; यज्वनाम्—अनेक यज्ञ सम्पन्न करनेवालों का।

यह बालक सुप्रसिद्ध उशीनर नरेश, शिबि, की भाँति उदार दानवीर तथा शरणागतों का रक्षक होगा। यह अपने कुल के नाम तथा यश को उसी तरह फैला देगा, जिस तरह महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत ने किया था।

तात्पर्य : राजा अपने दान-कर्म, यज्ञों की सम्पन्न करने शरणागतों की रक्षा के कारण विख्यात बनता है। क्षत्रिय राजा शरणागतों को सुरक्षा प्रदान करके गर्वित होता है। राजा की यह मनोवृत्ति ईश्वर भाव अर्थात् अच्छे कार्य के लिए सुरक्षा प्रदान करने की वास्तविक शक्ति कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् जीवों को उपदेश देते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ तो मैं तुम्हें समस्त सुरक्षा का वचन देता हूँ। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अपने वचनों के पक्के हैं, अतएव वे अपने विभिन्न भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने से कभी चूकते नहीं। राजा में, भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण, अपने प्राण की बाजी

लगाकर भी, शरणागत की रक्षा करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। उशीनर-नरेश महाराज शिबि महाराज ययाति के घनिष्ठ मित्र थे, जो महाराज शिबि समेत स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। महाराज शिबि को ज्ञात था कि मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्गलोक में जाना है और इस स्वर्गलोक का विवरण *महाभारत* (आदि पर्व ९६.६-९) में दिया हुआ है। महाराज शिबि इतने प्रणव दानी थे कि वे स्वर्गलोक में प्राप्त अपने स्थान को ययाति को देना चाहते थे, लेकिन ययाति ने उसे स्वीकार नहीं किया। ययाति अष्टक तथा अन्य महर्षियों के साथ स्वर्गलोक गये। ऋषियों के पूछे जाने पर ययाति ने, स्वर्ग जाते समय, उनसे शिबि के पुण्यकर्मों का वर्णन किया। वे यमराज की सभा के सदस्य बने जो उनके पूज्यदेव थे। जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है, देवताओं का उपासक देवलोक को जाता है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), अतएव महाराज शिबि, उस लोक में परम वैष्णव अधिकारी यमराज के पार्षद बन गये। जब वे पृथ्वी पर विद्यमान थे तो वे शरणागतों के रक्षक तथा दानी के रूप में अत्यन्त विख्यात हो चुके थे। एक बार स्वर्ग के राजा (इन्द्र) ने बाज का रूप धारण किया और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया। इस कबूतर ने बाज द्वारा पीछा किये जाने पर, महाराज शिबि की गोद में आकर शरण ली, किन्तु बाज चाहता था कि राजा उसे छोड़ दे। राजा उसे खाने के लिए दूसरा मांस देना चाहता था। राजा ने कबूतर को न मारने के लिए अनुनय-विनय की। बाज ने पहले राजा का अनुरोध नहीं माना, लेकिन बाद में यह तय हुआ कि राजा अपने शरीर से कबूतर के भार के बराबर मांस काट कर दे। राजा कबूतर के भार के तुल्य अपने शरीर से मांस काट-काट कर तुला पर रखता जाता, लेकिन रहस्यमय कबूतर सदा भारी ही रहता। तब राजा स्वयं तुला पर चढ़ गया जिससे भार पूरा हो जाये। इस पर देवता उस पर प्रसन्न हो गये। स्वर्ग के राजा तथा अग्निदेव ने अपनी पहचान बताई और राजा को आशीर्वाद दिया। देवर्षि नारद ने भी महाराज शिबि के दान तथा शरणागत की रक्षा के लिए किए गए कार्यों के लिए उनकी महिमा का गान किया। उन्होंने अपने राज्य के मनुष्यों की तुष्टि के लिए अपने पुत्र की बलि दे दी। इस प्रकार बालक परीक्षित दान तथा संरक्षण के मामले में दूसरा शिबि बनेगा।

दौष्यन्ति भरत—इतिहास में अनेक भरत हुए हैं, जिनमें से भगवान् राम के भाई भरत, राजा ऋषभ के पुत्र भरत तथा महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सारे भरत विश्व विख्यात हैं। यह पृथ्वीलोक ऋषभ के पुत्र राजा भरत के कारण भारत या भारतवर्ष के नाम से

विख्यात है, लेकिन कुछ लोगों के मतानुसार, यह देश दुष्यन्त के पुत्र के शासन के कारण भारत के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन हमारे मत से इस देश का भारतवर्ष नाम, राजा ऋषभ के पुत्र भरत के शासन के कारण पड़ा है। उनके पूर्व यह भू-भाग इलावर्त-वर्ष कहलाता था, किन्तु ऋषभ-पुत्र भरत के राज्यारोहण के बाद, यह भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लेकिन इन सबके बावजूद, महाराज दुष्यन्त का पुत्र भरत कम महत्त्वपूर्ण न था। वह सुप्रसिद्ध सुन्दरी शकुन्तला का पुत्र था। महाराज दुष्यन्त वन में इस सुन्दरी के प्रेमपाश में बँधे, तो भरत का गर्भाधान हुआ। तत्पश्चात् दुर्वासा मुनि के शापवश राजा, अपनी पत्नी शकुन्तला को भूल गया। बालक भरत का पालन-पोषण उस वन में ही उसकी माता द्वारा हुआ। वह अपने बाल्यकाल में ही इतना बलशाली था कि वह जंगल के सिंहों तथा हाथियों को ललकारता और उनके साथ वैसे ही लड़ता, जैसे छोटे-छोटे बालक कुत्ते-बिल्लियों से खेलते हैं। बालक के अत्यन्त शक्तिशाली होने से, यहाँ तक कि आधुनिक तथाकथित टार्जन से भी बढ़कर होने से, वन के ऋषिगण उसे सर्वदमन कहते थे। महाराज भरत का पूरा विवरण *महाभारत* के आदि पर्व में दिया हुआ है। कभी-कभी पाण्डवों या कौरवों को भारत कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि वे राजा दुष्यन्त के पुत्र महाराज भरत के कुल में उत्पन्न हुए थे।

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।

हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्विनाम्—महान् धनुर्धरों में; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ; एषः—यह बालक; तुल्यः—समान रूप से उत्तम; च—तथा; अर्जुनयोः—अर्जुनों का; द्वयोः—दो; हुताशः—अग्नि; इव—सदृश; दुर्धर्षः—दुर्निवार, बेरोक; समुद्रः—समुद्र; इव—सदृश; दुस्तरः—दुर्लभ्य, पार न करने योग्य।

महान् धनुर्धरों में यह बालक अर्जुन के समान होगा। यह अग्निदेव के समान दुर्निवार तथा समुद्र की भाँति दुर्लभ्य होगा।

तात्पर्य : इतिहास में दो अर्जुन हुए हैं—एक कार्तवीर्य अर्जुन, जो हैहय के राजा थे और दूसरे इस बालक के दादा। दोनों ही अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के लिए विख्यात हैं। बालक परीक्षित के विषय में

भविष्यवाणी की जा रही है कि वह युद्ध-कला में इन दोनों के समान होगा। पाण्डव अर्जुन का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया है।

पाण्डव अर्जुन—ये भगवद्गीता के महान् नायक हैं। ये महाराज पाण्डु के क्षत्रिय पुत्र थे। महारानी कुन्ती देवी किसी भी देवता का आवाहन कर सकती थीं और इस तरह जब उन्होंने इन्द्र का आवाहन किया, तो उससे अर्जुन का जन्म हुआ। अतएव अर्जुन स्वर्ग के राजा इन्द्र के पूर्ण अंश हैं। चूँकि उनका जन्म फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) में हुआ था, अतएव वे फाल्गुनि भी कहलाते हैं। जब वे कुन्ती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए, तो आकाशवाणी हुई कि यह पुत्र महान् होगा। उनके जन्मोत्सव में ब्रह्माण्ड के सारे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—यथा देवता, गन्धर्व, आदित्य (सूर्य लोकवासी), रुद्र, वसु, नाग, ऋषि तथा अप्सराएँ सम्मिलित हुए थे। अप्सराओं ने अपने स्वर्गिक नृत्य तथा गायन से सबों को प्रमुदित किया था। कृष्ण के पिता तथा अर्जुन के मामा श्री वसुदेव ने अपने पुरोहित कश्यप को, सारे संस्कारों द्वारा अर्जुन को परिशुद्ध करने के लिए भेजा था। उनका नामकरण संस्कार शतश्रृंग के निवासी ऋषियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। उनकी चार पत्नियाँ थीं—द्रौपदी, सुभद्रा, चित्रांगदा तथा उलूपी, जिनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनके नाम क्रमशः श्रुतकीर्ति, अभिमन्यु, बभ्रुवाहन तथा इरावान थे।

विद्यार्थी जीवन में इन्हें अन्य पाण्डवों तथा कौरवों के साथ महान् आचार्य द्रोणाचार्य की देखरेख में अध्ययन करने के लिए सौंपा गया था। अपने अध्यवसाय के कारण, ये सबों से आगे रहते थे और द्रोणाचार्य भी इनके प्रति शिष्य-प्रेम के कारण अत्यधिक आकृष्ट थे। द्रोणाचार्य ने इन्हें प्रथम कोटि के छात्र के रूप में ग्रहण किया था और हृदय से प्यार करने के कारण, इन्हें सैन्य-विज्ञान के सारे वर दे दिये थे। वे इतने उत्सुक छात्र थे कि वे रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करते थे, जिसके कारण द्रोणाचार्य इन्हें विश्व का सर्वोपरि धनुर्धर बनाना चाह रहे थे। वे लक्ष्य-वेध की परीक्षा में प्रतिभाशाली रूप से सफल रहे, फलतः द्रोणाचार्य इनसे अतीव प्रसन्न थे। मणिपुर तथा त्रिपुरा के राजपरिवार, अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन के वंशज हैं। अर्जुन ने द्रोणाचार्य को एक घड़ियाल के हमले से बचाया था और आचार्य ने प्रसन्न होकर उन्हें ब्रह्मशिरस नामक एक अस्त्र प्रदान किया था। महाराज द्रुपद का द्रोणाचार्य से वैर था, अतएव जब उसने आचार्य पर आक्रमण किया, तब अर्जुन उसे बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के समक्ष लाये। उन्होंने महाराज द्रुपद की नगरी अहिच्छत्रा को घेर लिया और इसे जीतकर द्रोणाचार्य को

दिया। द्रोणाचार्य ने ब्रह्मशिरस अस्त्र को चलाने का रहस्य बतलाया और अर्जुन से प्रतिज्ञा ली कि वह आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग तभी करेगा, जब स्वयं द्रोणाचार्य शत्रु-रूप में उपस्थित हों। इस तरह आचार्य ने कुरुक्षेत्र के भावी युद्ध की भविष्यवाणी की थी, जिसमें द्रोणाचार्य विपक्ष के साथ थे। यद्यपि महाराज द्रुपद, अर्जुन द्वारा आचार्य के लिए पराजित हुए थे, किन्तु उन्होंने अर्जुन को अपनी पुत्री द्रौपदी समर्पित करने का निश्चय किया। लेकिन जब उन्होंने यह गलत समाचार सुना कि दुर्योधन द्वारा नियोजित लाक्षागृह में अग्नि लगने से अर्जुन की मृत्यु हो गई, तो वे अत्यधिक निराश हुए। अतएव उन्होंने द्रौपदी का स्वयंवर करने का प्रबन्ध किया, जिसमें भावी पति को छत से लटकती मछली की आँख को वेधना था। यह युक्ति जान-बूझकर इसलिए की गई थी, क्योंकि केवल अर्जुन ही ऐसा कर सकते थे। इस तरह वे अपनी योग्य पुत्री को अर्जुन को सौंपने की अपनी योजना में सफल रहे। उस समय अर्जुन व सभी भाई, दुर्योधन से किये गए समझौते के अनुसार, लाक्षागृह की अग्नि से बचकर अज्ञातवास कर रहे थे, अतएव अर्जुन तथा उसके भाइयों ने ब्राह्मण-वेश में द्रौपदी-स्वयंवर में भाग लिया। जब वहाँ पर एकत्रित समस्त क्षत्रिय राजाओं ने देखा कि द्रौपदी ने एक दरिद्र ब्राह्मण को पति रूप में चुना है, तब श्रीकृष्ण ने बलराम से अर्जुन के परिचय का भेद खुला किया।

हरिद्वार (हरद्वार) में उनकी भेंट नागलोक की कन्या उलूपी से हुई। वे उससे आकृष्ट हुए और इस प्रकार इरवान का जन्म हुआ। इसी प्रकार उनकी भेंट मणिपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा से हुई और इससे भभ्रुवाहन प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के अपहरण के लिए अर्जुन की सहायता करने की योजना बनाई, क्योंकि बलदेव उसे दुर्योधन को देने पर तुले थे। युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण से सहमत थे और इस तरह अर्जुन ने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण करके उसके साथ विवाह कर लिया। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु था, जिसकी मृत्यु के बाद परीक्षित महाराज ने पुत्र-रूप में जन्म लिया। अर्जुन ने खाण्डव वन का अग्निदाह करके जब अग्निदेव को प्रसन्न कर लिया, तो अग्निदेव ने उन्हें एक अस्त्र प्रदान किया। जब अर्जुन ने खाण्डव वन में अग्नि लगा दी, तो इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अन्य देवताओं की सहायता से अर्जुन पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वे सब अर्जुन द्वारा पराजित हुए और इन्द्रदेव को स्वर्ग लौट जाना पड़ा। अर्जुन ने एक मयासुर की भी रक्षा करने का वचन दिया था

और उसने उन्हें एक मूल्यवान शंख प्रदान किया, जिसका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार इन्द्रदेव ने उनकी शूरवीरता से प्रसन्न होकर उन्होंने अनेक अस्त्र प्रदान किये।

जब महाराज युधिष्ठिर मगध के राजा जरासन्ध को न हरा पाने से निराश हो रहे थे, तब अर्जुन ने ही उन्हें इस प्रकार से आश्वासन दिया और तब अर्जुन, भीम तथा भगवान् कृष्ण उसका वध करने के लिए मगध के लिए रवाना हुए। जब वे विश्व भर के राजाओं को पाण्डवों के अधीन बनाने के लिए बाहर गये, जैसाकि प्रत्येक सम्राट के राजतिलक के बाद होता है, तो उन्होंने केलिन्द नामक देश को जीता और राजा भगदत्त को अपने अधीन किया। इसके बाद वे अन्तगिरि, उलुकपुर तथा मोदपुर जैसे देशों में विचरते रहे और समस्त राजाओं को अपने अधीन बनाया।

कभी-कभी उन्होंने कठोर तपस्याएँ कीं और बाद में उन्हें इन्द्रदेव से वरदान भी मिला। शिवजी भी अर्जुन के बल की परीक्षा करना चाहते थे, अतएव वे एक आदिवासी के रूप में अर्जुन से मिले। उन दोनों में भीषण युद्ध हुआ और अन्त में जब शिवजी उनसे प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय प्रकट किया। अर्जुन ने विनीत भाव से उनकी प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुन को *पाशुपत* अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न देवताओं से अन्य अनेक अस्त्र प्राप्त किये—यथा यमराज से *दण्डास्त्र*, वरुण से *पाशास्त्र*, स्वर्ग के भंडारी कुवेर से *अन्तर्धान-अस्त्र*। इन्द्र ने चाहा कि अर्जुन चन्द्रलोक से भी आगे इन्द्रलोक नामक स्वर्ग के ग्रह में जायें। उस ग्रह पर स्थानीय निवासियों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत हुआ और इन्द्रदेव की स्वर्गीय संसद में उनका भव्य स्वागत हुआ। तब वे इन्द्रदेव से मिले, जिन्होंने न केवल उन्हें *वज्रास्त्र* प्रदान किया, अपितु उन्हें सैन्य तथा संगीत-विद्या भी सिखलाई, जो उस समय स्वर्गलोक में प्रचलित थीं। एक तरह से, इन्द्र ही अर्जुन के वास्तविक पिता थे, अतएव वे अर्जुन का मनोरंजन स्वर्ग की सुन्दर अप्सरा उर्वशी द्वारा कराना चाहते थे। स्वर्ग की अप्सराएँ अत्यन्त कामुक होती हैं और उर्वशी अर्जुन के संसर्ग के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, क्योंकि अर्जुन अत्यन्त बलशाली मनुष्य थे। वह उनसे उनके कक्ष में मिली और उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु अर्जुन ने अपनी आँखें बन्द करके, उसे कुरुवंश की माता के रूप में सम्बोधित करके अपने निर्दोष चरित्र का परिचय दिया तथा उर्वशी को कुन्ती, माद्री तथा इन्द्रपत्नी शचीदेवी की कोटि में ला दिया। निराश होकर उर्वशी

ने अर्जुन को शाप दे दिया और वहाँ से चली गई। स्वर्ग में ही उनकी भेंट विख्यात साधु लोमश से हुई, जिनसे उन्होंने महाराज युधिष्ठिर की रक्षा करने की प्रार्थना की।

जब उनका घोर विरोधी चचेरा भाई, दुर्योधन गन्धर्वों के चंगुल में था, तो उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से अर्जुन ने गन्धर्वों से अनुनय-विनय की थी कि वे उसे छोड़ दें, लेकिन गन्धर्वों के ऐसा करने से मना करने पर उनसे युद्ध करके दुर्योधन को छोड़ा था। जब समस्त पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे, तो ये राजा विराट के दरबार में क्लीव (हिजड़ा) के रूप में उपस्थित होकर, अपनी भावी पुत्रवधू उत्तरा के संगीत-शिक्षक बने और विराट के दरबार में बृहन्नला के नाम से विख्यात हुए। बृहन्नला के रूप में वे राजा विराट के पुत्र उत्तर के पक्ष से लड़े थे और अज्ञातवास-काल में कुरुओं को हराया था। उनके गुप्त अस्त्र एक शमी वृक्ष में सुरक्षित रखे गये थे और उन्होंने उत्तर को आदेश दिया कि वह उन्हें ले आए। बाद में उत्तर को उनका तथा उनके भाइयों की असली पहचान प्रकट कर दी गई। द्रोणाचार्य को कुरुओं तथा विराटों के युद्ध में अर्जुन के उपस्थित होने की सूचना दी गई थी। बाद में अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में कर्ण तथा अन्य बड़े-बड़े सेनापतियों का वध किया। कुरुक्षेत्र-युद्ध के पश्चात्, उन्होंने अश्वत्थामा को दण्ड दिया, जिसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया था। तब सभी भाई भीष्मदेव के पास गये थे।

यह अर्जुन के कारण ही सम्भव हुआ कि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन किया। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में उनके आश्चर्यजनक कार्यों का *महाभारत* में विशद वर्णन हुआ है। किन्तु अर्जुन अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा मणिपुर में पराजित हुए और मूर्छित हो गये, पर उलूपी ने तब उनकी रक्षा की। भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का समाचार अर्जुन द्वारा महाराज युधिष्ठिर को दिया गया। पुनः अर्जुन ने द्वारका की यात्रा की, तो कृष्ण की सारी विधवा पत्नियों ने उनके सामने विलाप किया। वे उन सबों को वसुदेव के पास ले गये और सान्त्वना दी। बाद में, वसुदेव के दिवंगत हो जाने पर, कृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने ही उनका दाह-संस्कार किया। जब अर्जुन कृष्ण की सभी पत्नियों को इन्द्रप्रस्थ ले जा रहे थे, तो मार्ग में उन पर आक्रमण हो गया और वे उन स्त्रियों की रक्षा नहीं कर पाये। अन्त में व्यासदेव के उपदेश से सारे पाण्डव महाप्रस्थान के लिए चल पड़े। मार्ग में उन्होंने अपने भाई के अनुरोध पर, अपने सारे अस्त्रों को व्यर्थ समझकर उन्हें पानी में फेंक दिया।

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; विक्रान्तः—शक्तिशाली; निषेव्यः—शरण ग्रहण करने योग्य; हिमवान्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; तितिक्षुः—क्षमावान्; वसुधा इव—पृथ्वी के समान; असौ—यह बालक; सहिष्णुः—सहिष्णु; पितरौ—माता-पिता; इव—सदृश ।

यह बालक सिंह के समान बलशाली तथा हिमालय की भाँति आश्रय प्रदान करनेवाला होगा। यह पृथ्वी के समान क्षमावान तथा अपने माता-पिता के समान सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : जब कोई अपने शत्रु का पीछा करने में अत्यन्त प्रबल होता है, तो उसकी तुलना सिंह से की जाती है। मनुष्य को घर में मेमना बने रहना चाहिए, किन्तु शत्रु का पीछा करते समय उसे सिंह होना चाहिए। सिंह कभी पशु को पकड़ने में असफल नहीं होता। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख को शत्रु का पीछा करने में कभी असफल नहीं होना चाहिए। हिमालय पर्वत अपनी समृद्धि के लिए विख्यात है। वहाँ रहने के लिए अनेक कन्दराएँ हैं, खाने के लिए उत्तम फलदार वृक्ष हैं, पानी पीने के लिए निर्मल झरने हैं और रोगों को ठीक करने की अनेक औषधियाँ तथा खनिज हैं। जो व्यक्ति भौतिक रूप से सम्पन्न न हो, उसे चाहिए कि इन पर्वतों की शरण ले, तो उसे सारी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाएँगी। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही समान रूप से हिमालय की शरण ग्रहण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासियों द्वारा पृथ्वी पर अनेक उत्पात मचाये जाते हैं। आधुनिक युग में लोग पृथ्वी की सतह पर परमाणु अस्त्रों का विस्फोट करने लगे हैं, फिर भी पृथ्वी इन निवासियों के उत्पातों को सहती रहती है। माता-पिता बच्चों की समस्त प्रकार की शैतानियों को सहते रहते हैं जिस प्रकार एक माता छोटे बच्चे को क्षमा करती है। आदर्श राजा में ये सारे उत्तम गुण होने चाहिए और बालक परीक्षित इन सारे गुणों से परिपूर्ण होने की भविष्यवाणी की जा रही है।

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पितामह—पितामह या ब्रह्मा; समः—तुल्य; साम्ये—समता में; प्रसादे—दान या कृपालुता में; गिरिश—शिवजी; उपमः—उपमा, तुलना; आश्रयः—आश्रय, विश्राम-स्थल; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों का; यथा—जिस तरह; देवः—परमेश्वर; रमा-आश्रयः—भगवान्।

यह बालक मन की समता में अपने पितामह युधिष्ठिर या फिर ब्रह्मा के समान होगा। दानशीलता में यह कैलाशपति शिव के समान होगा। यह देवी लक्ष्मी के भी आश्रय, भगवान् नारायण के समान सबों को आश्रय देनेवाला होगा।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा जीवों के पितामह, ब्रह्मा, दोनों ही मन की समता (समदर्शिता) के द्योतक हैं। श्रीधरस्वामी के अनुसार, *पितामह* शब्द ब्रह्मा के लिए आया है, किन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, पितामह स्वयं महाराज युधिष्ठिर हैं। किन्तु दोनों ही तरह से यह उपमा समान रूप से उत्तम है, क्योंकि दोनों ही परमेश्वर के जाने-माने प्रतिनिधि हैं, अतएव दोनों को ही, जीव के कल्याणकार्य में लगे रहने से, मानसिक समता बनाये रखनी होती है। शासन के किसी भी सर्वोच्च जिम्मेदार कार्यकारी व्यक्ति को उन्हीं सबों के घात सहने पड़ते हैं, जिनके लिए वह कार्य करता है। ब्रह्माजी की आलोचना गोपियों तक ने की, जो भगवान् के महान्तम पूर्ण भक्त हैं। गोपियाँ ब्रह्माजी के कार्य से असन्तुष्ट थीं, क्योंकि इस ब्रह्माण्ड-विशेष के स्रष्टा-रूप में, उन्होंने पलकें बनाईं, जिनके कारण भगवान् कृष्ण का दर्शन करने में उन्हें बाधा पहुँचती थी। वे क्षण भर भी पलक झपकाना पसन्द नहीं करती थीं, क्योंकि इससे उनके परम प्रिय भगवान् का दर्शन रुक जाता था। अतएव अन्यों के विषय में क्या कहा जाये, जो किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति के हर कार्य की आलोचना करते रहते हैं? इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को, अपने शत्रुओं द्वारा उत्पन्न की गई अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करते रहना होता था, किन्तु सभी नाजुक परिस्थितियों में भी वे मानसिक सन्तुलन पूर्णरूपेण बनाये रहे। अतः मानसिक समता बनाये रखने में दोनों पितामहों का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

शिवजी भिखारियों को दान देने के लिए विख्यात देवता हैं। अतएव उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न होनेवाले। वे भूतनाथ भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है सामान्य (गँवई) लोगों के स्वामी, जो उनके प्रति इसलिए आकर्षित होते हैं, क्योंकि वे भावी परिणामों का विचार किये बिना उदार वर देते रहते हैं। रावण शिवजी के प्रति अत्यधिक आसक्त था और वह उन्हें सरलता से प्रसन्न करके इतना शक्तिशाली बन गया कि उसने भगवान् राम की सत्ता को चुनौति देना

चाहा। निस्सन्देह, जब रावण शिवजी के आराध्य भगवान् राम से लड़ा, तो शिवजी ने उसकी कोई सहायता नहीं की। शिवजी ने वृकासुर को ऐसा वरदान दिया था, जो न केवल उपहासास्पद था, अपितु भयावह भी था। शिवजी की कृपा से वृकासुर इतना शक्तिशाली बन गया कि वह किसीके भी मस्तक पर हाथ रख कर उसे तुरन्त नष्ट कर सकता था। यद्यपि शिवजी ने ही यह वरदान दिया था, किन्तु उस चालाक असुर ने शिवजी के मस्तक का स्पर्श करके इसकी शक्ति का परीक्षण करना चाहा। इस तरह शिवजी को इस मुसीबत से अपनी रक्षा करने के लिए विष्णु की शरण लेनी पड़ी। भगवान् विष्णु ने अपनी माया से वृकासुर को अपने ही मस्तक का स्पर्श करके परीक्षण करने के लिए कहा। उसने वैसा ही किया, जिससे वह नष्ट हो गया और इस तरह यह संसार देवताओं के चालाक याचक की सारी मुसीबतों से मुक्त हो सका। सबसे मजेदार बात यह है कि शिवजी कभी किसी को किसी प्रकार का वरदान देने से मना नहीं करते। अतएव वे सर्वाधिक उदार हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे ऐसी कुछ भूल हो जाती है।

रमा का अर्थ है भाग्य की देवी। उनके आश्रय भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु समस्त जीवों के पालक हैं। जीव असंख्य होते हैं, जो न केवल इस ग्रह में रहते हैं, अपितु अन्य लाखों ग्रहों में भी रहते हैं। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उन सबको जीवन की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन इन्द्रियतृप्ति के मार्ग में वे माया के कारण कठिनाई में फँस जाते हैं, अतएव वे आर्थिक विकास की मिथ्या योजना के मार्ग पर जाते हैं। ऐसा आर्थिक विकास कभी सफल नहीं होता, क्योंकि यह भ्रामक है। ये लोग सदैव भ्रामक लक्ष्मीदेवी के पीछे-पीछे लगे रहते हैं, लेकिन ये लोग यह नहीं जानते कि लक्ष्मीजी केवल विष्णु के संरक्षण में ही रह सकती हैं। विष्णु के बिना, लक्ष्मीजी कोरी माया हैं। अतएव हमें प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मीजी का आश्रय न ढूँढ़ कर विष्णु का आश्रय लेना चाहिए। केवल विष्णु तथा उनके भक्त ही सबों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं और चूँकि महाराज परीक्षित की रक्षा स्वयं विष्णु कर रहे थे, अतएव यह सर्वथा सम्भव था कि वे अपने शासन में रहनेवाले सबों को पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान कर सकें।

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः ।

रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सर्व-सत्-गुण-माहात्म्ये—समस्त दैवी गुणों से महिमान्वित; एषः—यह बालक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की तरह; अनुव्रतः— उनके पदचिह्नों पर चलनेवाला; रन्तिदेवः—रन्तिदेव; इव—सदृश; उदारः—उदार; ययातिः—ययाति; इव—सदृश; धार्मिकः— धर्म के मामले में।

यह बालक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों का पालन करते हुए, उन्हीं के समान होगा।

उदारता में यह राजा रन्तिदेव के समान तथा धर्म में यह महाराज ययाति की भाँति होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह है कि मनुष्य सब कुछ त्याग कर भगवान् के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करे। अल्पज्ञानी लोग इस महान् उपदेश को स्वीकार नहीं करते, जो उनका दुर्भाग्य ही है, किन्तु जो मनुष्य सचमुच बुद्धिमान है, वह इस अलौकिक उपदेश को ग्रहण करके तुरन्त लाभान्वित होता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि संगति से ही गुण ग्रहण किये जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक अर्थ में भी, अग्नि की संगति से कोई भी वस्तु गरम हो जाती है। अतएव परम पुरुषोत्तम भगवान् की संगति से मनुष्य भगवान् के ही समान योग्य बन जाता है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् की घनिष्ठ संगति से हम ७८ प्रतिशत भगवदीय गुण प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही भगवान् की संगति करना है। *भगवान् कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं, जिसकी उपस्थिति का अनुभव ऐसा संग करने के लिए आवश्यक होता है।* भगवान् सर्वत्र और सभी काल में उपस्थित रहते हैं। यह पूरा सम्भव है कि केवल उनके आदेश पालन करने से ही उनकी संगति प्राप्त हो जाए, क्योंकि भगवान् एवं उनका आदेश तथा भगवान् एवं उनका नाम, यश, गुण तथा साज-सामान, परम ज्ञान होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ से लेकर अपने अमूल्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक भगवान् की संगति में रहे, अतएव उन्होंने भगवान् के सारे अनिवार्य उत्तम गुण, पूर्णतया अर्जित कर लिये थे।

रन्तिदेव—ये *महाभारत* काल से भी पहले के प्राचीन राजा हैं, जिनका उल्लेख नारदमुनि ने संजय को उपदेश देते हुए किया था, जैसा कि *महाभारत* (द्रोण पर्व ६७) से ज्ञात होता है। ये महान् राजा थे और आतिथ्य के लिए तथा भोजन वितरण करने के लिए विख्यात थे। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इनके दान तथा आतिथ्य की प्रशंसा की थी। वशिष्ठ मुनि को शीतल जल प्रदान करने के कारण उन्हें उनसे वर प्राप्त हुआ, जिस से वे स्वर्गलोक गये। वे ऋषियों को फल, कन्द तथा पत्तियाँ पहुँचाया करते

थे, जिससे इच्छापूर्ति होने के कारण वे आशिष दिया करते थे। *यद्यपि वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी भी मांस भक्षण नहीं किया।* उन्होंने वशिष्ठ मुनि का विशेष आतिथ्य किया और उनके आशीर्वाद से ही उन्हें स्वर्गलाभ हुआ। वे उन राजाओं में से हैं, जिनका स्मरण हर प्रातः तथा संध्या समय किया जाता है।

ययाति—ये विश्व के महान् सम्राट और आर्य तथा भारोपीय कुल से सम्बन्धित समस्त महान् राष्ट्रों के आदि पूर्वज थे। ये महाराज नहुष के पुत्र थे और अपने बड़े भाई के मुक्त योगी हो जाने पर विश्व के सम्राट बने थे। उन्होंने कई हजार वर्षों तक राज्य किया और अनेक यज्ञ तथा पुण्यकार्य किये जिनका इतिहास साक्षी है, यद्यपि उनका प्रारम्भिक यौवन अत्यन्त वासनामय तथा प्रेमपूर्ण कहानियों से भरा पड़ा था। वे देवयानी के प्रेमपाश में फँस गये, जो शुक्राचार्य की सर्वाधिक प्रिय पुत्री थी। देवयानी उनसे विवाह करना चाहती थी, किन्तु ब्राह्मण की पुत्री होने के कारण, ययाति ने पहले उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। शास्त्रों के अनुसार केवल एक ब्राह्मण ही ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। वे विश्व में *वर्ण-संकर* जनसंख्या के प्रति विशेष सतर्क रहते थे। लेकिन शुक्राचार्य ने वर्जित विवाह के इस नियम को संशोधित करके राजा ययाति से देवयानी को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। देवयानी की एक सखी शर्मिष्ठा थी, वह भी राजा से प्रेम करने लगी थी। अतएव वह अपनी सखी देवयानी के साथ ससुराल गई। शुक्राचार्य ने सम्राट ययाति को मना किया कि वह शर्मिष्ठा को अपने शयन-कक्ष में न बुलाए, लेकिन ययाति उनके आदेशों का दृढ़ता से पालन न कर सके। उन्होंने चुपके से शर्मिष्ठा से भी विवाह कर लिया, जिससे उनके कई पुत्र हुए। जब इसका पता देवयानी को चला, तो वह अपने पिता के पास गई और शिकायत की। ययाति देवयानी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे। अतएव जब वे उसे बुलाने अपने श्वसुर के घर गये, तो शुक्राचार्य ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया कि वह नपुंसक हो जाये। ययाति ने अपने श्वसुर से विनती की कि वे शाप को वापस ले लें। लेकिन मुनि ने ययाति को यौवन लौटाने की शर्त के तौर पर उनसे कहा कि वे अपने पुत्रों का यौवन लेकर, उन्हें वृद्ध एवं नपुंसक हो जाने दें। उनके पाँच पुत्र थे, जिनमें से दो देवयानी से प्राप्त हुए थे और तीन शर्मिष्ठा से। उनके पाँच पुत्रों (१) यदु, (२) तुर्वसु, (३) द्रुह्यु, (४) अनु तथा (५) पुरु से, क्रमशः पाँच विख्यात वंशों का उद्भव हुआ—(१) यदुवंश, (२) यवन (तुर्क) वंश (३) भोजवंश, (४) म्लेच्छ

वंश (ग्रीक) तथा (५) पौरव। ये सारे वंश विश्व भर में फैल गये। वे अपने पुण्यकर्मों से स्वर्गलोक पहुँच गये, लेकिन आत्म-प्रशंसा तथा अन्य महात्माओं की आलोचना करने के कारण उन्हें वहाँ से नीचे गिरना पड़ा। उनके पतन के बाद, उनकी कन्या तथा पौत्र ने उन्हें अपने सारे संचित पुण्य प्रदान किये और वे अपने पौत्र तथा अपने मित्र शिबि की सहायता से पुनः स्वर्गलोक में पहुँच सके, जहाँ वे यमराज की सभा के सदस्य बने और भक्त के रूप में वहीं रहते रहे। उन्होंने एक हजार से अधिक यज्ञ किये और मुक्तहस्त दान दिया। वे अत्यन्त प्रभावशाली राजा थे। सारे विश्व में उनका दबदबा था। जब वे कामवासना से एक हजार वर्षों तक अत्यधिक पीड़ित रहे, तो उनके सबसे छोटे पुत्र ने उन्हें अपना यौवन अर्पित किया। अन्ततः, वे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये और उन्होंने अपने पुत्र पुरु को उसका यौवन लौटा दिया। उन्होंने पुरु को राज्य भी सौंपना चाहा, लेकिन उनके दरबारी तथा प्रजागण इसके लिए राजी न हुए। किन्तु जब उन्होंने उनसे राजा पुरु की महानता का बखान किया, तो वे उसे राजा स्वीकार करने के लिए राजी हो गये और इस तरह सम्राट ययाति गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर गृहत्याग कर, वन चले गये।

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः ।

आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धृत्या—धैर्य से; बलि-समः—बलि महाराज के समान; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के प्रति; प्रह्लाद—प्रह्लाद महाराज; इव—सदृश; सत्-ग्रहः—भक्त; आहर्ता—सम्पन्न करनेवाला; एषः—यह बालक; अश्वमेधानाम्—अश्वमेध यज्ञों का; वृद्धानाम्—वृद्ध तथा अनुभवी व्यक्तियों का; पर्युपासकः—अनुयायी।

यह बालक धैर्य में बलि महाराज के समान होगा और प्रह्लाद महाराज के समान कृष्ण का अनन्य भक्त, यह अनेक अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न करनेवाला तथा वृद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों का अनुयायी होगा।

तात्पर्य : बलि महाराज—ये भगवान् की भक्ति के बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। ये भक्ति के अधिकारी (महान्) इसलिए बने, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए इन्होंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था और अपने तथाकथित गुरु से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, क्योंकि गुरु ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व न्यौछावर करने में बाधा उत्पन्न की थी। धार्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि,

बिना किसी कारण के या किसी प्रकार के सांसारिक व्यवधान के, भगवद्भक्ति की अहैतुकी अवस्था प्राप्त करना है। बलि महाराज भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व त्याग देने के लिए कृतसंकल्प थे और उन्होंने किसी प्रकार की अडचन की परवाह नहीं की। ये भक्ति के अन्य प्रामाणिक अधिकारी (महाजन) प्रह्लाद महाराज के पौत्र थे। बलि महाराज तथा विष्णु वामनदेव के साथ उनके व्यवहार की कथा *श्रीमद्भागवत* के आठवें स्कंध (अध्याय ११-२४) में वर्णित है।

प्रह्लाद महाराज—वे भगवान् कृष्ण (विष्णु) के परम भक्त थे। अभी वे केवल पाँच वर्ष के ही थे कि उनके पिता हिरण्यकशिपु ने भगवान् का अनन्य भक्त होने के लिए उन्हें कठोर दण्ड दिया। वे हिरण्यकशिपु के प्रथम पुत्र थे और उनकी माता का नाम कयाधु था। प्रह्लाद महाराज महाभागवत थे, क्योंकि उनके पिता का वध भगवान् नृसिंहदेव ने किया था। इससे यह दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ था कि यदि भक्ति मार्ग में पिता बाधक बने, तो उसे भी भक्ति के पथ से दूर कर देना चाहिए। उनके चार पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र, विरोचन के पुत्र-रूप में, बलि महाराज हुए जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध में मिलता है।

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राज-ऋषीणाम्—ऋषि तुल्य राजाओं का; जनयिता—उत्पन्न करनेवाला; शास्ता—दण्ड देनेवाला; च—तथा; उत्पथ-गामिनाम्—मर्यादा उल्लंघन करनेवालों का; निग्रहीता—दमनकर्ता; कलेः—उपद्रव करनेवालों का; एषः—यह; भुवः—संसार को; धर्मस्य—धर्म के; कारणात्—कारण से।

यह बालक ऋषि तुल्य राजाओं का पिता होगा। विश्व-शान्ति तथा धर्म के निमित्त यह मर्यादा तोड़नेवालों तथा उपद्रवकारियों को दण्ड देनेवाला होगा।

तात्पर्य : संसार में सबसे विचक्षण व्यक्ति भगवान् का भक्त होता है। ऋषिगण प्रज्ञावान व्यक्ति कहलाते हैं और ज्ञान की विविध शाखाओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्रज्ञावान् व्यक्ति होते हैं। अतएव जब तक राजा, या किसी राज्य का अध्यक्ष, सबसे बुद्धिमान व्यक्ति नहीं होता, तब तक वह राज्य के सभी प्रकार के बुद्धिमान व्यक्तियों को वश में नहीं रख सकता। महाराज युधिष्ठिर के कुल की राजसी परम्परा से सारे राजा बिना किसी अपवाद के अपने काल के सर्वाधिक विचक्षण व्यक्ति थे और

ऐसी ही भविष्यवाणी महाराज परीक्षित तथा उनके होनेवाले पुत्र महाराज जनमेजय के विषय में की जा रही थी। ऐसे प्रज्ञावान राजा ही मर्यादा तोड़नेवालों को दण्ड देनेवाले तथा कलि अर्थात् या झगड़ालू तत्त्वों के विच्छेदक बन सकते हैं। जैसाकि अगले अध्यायों से स्पष्ट हो जायेगा, महाराज परीक्षित मूर्तिमंत कलि का वध करना चाहते थे, क्योंकि वह शान्ति तथा धर्म की प्रतीक गाय को मारने का प्रयत्न कर रहा था। कलि के लक्षण हैं—(१) सुरा, (२) स्त्रियाँ, (३) द्यूत क्रीड़ा तथा (४) कसाई घर। समस्त राज्यों के बुद्धिमान शासकों को चाहिए कि वे महाराज परीक्षित से शिक्षा ग्रहण करें कि किस तरह उन मर्यादा भंग करनेवालों का तथा उपद्रव करनेवालों का दमन करके शान्ति तथा नैतिकता स्थिर रखी जाती है, जो सुरा, सुन्दरी, द्यूत क्रीड़ा तथा नियमित रूप से चलाये जा रहे कसाईघरों से मिलनेवाले मांस का सेवन करते हैं। इस कलियुग में कलह उत्पन्न करने वाले इन विभिन्न विभागों को चालू रखने के लिए लाइसेंस दिये जाते हैं। तो ऐसे राज्य में शान्ति तथा नैतिकता की आशा किस तरह की जा सकती है? अतएव राज्य के जनकों को भगवान् की भक्ति द्वारा, अनुशासन को भंग करनेवालों को दण्ड देकर तथा कलह के लक्षणों का उन्मूलन करके चतुर बनने के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। यदि हम प्रज्वलित अग्नि चाहते हैं, तो सूखे ईंधन का प्रयोग करना पड़ेगा, क्योंकि प्रज्वलित अग्नि तथा गीले ईंधन का मेल नहीं होता। शान्ति तथा नैतिकता वहीं फल-फूल सकती हैं, जहाँ महाराज परीक्षित तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों का पालन होता हो।

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।

प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तक्षकात्—तक्षक नागराज द्वारा; आत्मनः—अपनी; मृत्युम्—मृत्यु को; द्विज-पुत्र—ब्राह्मण पुत्र द्वारा; उपसर्जितात्—भेजा गया; प्रपत्स्यते—शरण ग्रहण करने पर; उपश्रुत्य—सुनकर; मुक्त-सङ्गः—समस्त आसक्ति से मुक्त; पदम्—पद; हरेः—भगवान् का।

वह ब्राह्मण पुत्र के द्वारा भेजे गये तक्षक नाग के डसने से अपनी मृत्यु होने की बात सुनकर समस्त भौतिक आसक्ति से अपने आपको मुक्त करके, भगवान् को आत्म-समर्पण करके उन्हीं की शरण ग्रहण करेगा।

तात्पर्य : भौतिक आसक्ति तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने में कोई मेल नहीं है। भौतिक आसक्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में दिव्य सुख के प्रति अज्ञान। इस संसार में रहते हुए, भगवान् की भक्तिमय सेवा भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अभ्यास करने का साधन है और जब यह परिपक्व हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है और भगवाद्धाम वापस जाने के लिए सक्षम बन जाता है। महाराज परीक्षित, अपनी माता के गर्भ में शरीर धारण करते हुए ही भगवान् के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हो चुके थे और निरन्तर भगवान् की शरण में रह रहे थे। ब्राह्मण पुत्र द्वारा दिये गये शाप के सात दिन के भीतर ही अपनी मृत्यु की तथाकथित चेतावनी उनके लिए वरदान थी, क्योंकि इससे वे भगवाद्धाम वापस जाने की तैयारी कर सकते थे। चूँकि वे भगवान् द्वारा सदा ही रक्षित थे, अतएव यदि वे चाहते तो भगवत्कृपा से इस शाप के प्रभाव से बच सकते थे। लेकिन उन्होंने बिना किसी कारण के भगवत्कृपा का अनुपयुक्त लाभ उठाना पसन्द नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इस नुकसान के सौदे का सर्वोत्तम लाभ उठाया। उन्होंने लगातार सात दिनों तक उपयुक्त पात्र से *श्रीमद्भागवत* सुना और इस तरह वे भगवान् के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त कर सके।

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।

हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासित—जिज्ञासा करते हुए; आत्म-याथार्थ्यः—आत्मा का सही ज्ञान; मुनेः—विद्वान्, दार्शनिक; व्यास-सुतात्—व्यास के पुत्र से; असौ—वह; हित्वा—त्यागकर; इदम्—इस भौतिक आसक्ति को; नृप—हे राजा; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; यास्यति—जाएगा; अद्धा—सीधे; अकुतः-भयम्—निर्भय जीवन।

व्यासेदव के महान् दार्शनिक पुत्र से समुचित आत्म-ज्ञान के विषय में जिज्ञासा करने पर वह सारी भौतिक आसक्ति का परित्याग करेगा और निर्भय जीवन प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : भौतिक ज्ञान का अर्थ है, आत्म-ज्ञान से अनभिज्ञता। दर्शन का अर्थ है सही आत्म-ज्ञान की खोज करना, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान। आत्म-साक्षात्कार के बिना का दर्शन मात्र शुष्क चिन्तन या समय तथा शक्ति का अपव्यय मात्र है। *श्रीमद्भागवत* वास्तविक आत्मज्ञान देता है और *श्रीमद्भागवत* सुनकर मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निर्भयता के साम्राज्य (अभयपद) में

प्रवेश कर सकता है। यह भौतिक जगत भय-प्रद है। इसके बन्दी सदैव इस तरह भयभीत रहते हैं मानो बन्दीगृह के भीतर हों। बन्दीगृह का कोई भी व्यक्ति बन्दीगृह के विधि-विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि करता है, तो उसका अर्थ है बन्दी-जीवन की एक और कालावधि का विस्तार। इसी प्रकार हम इस भौतिक जगत में हम सदा भयभीत बने रहते हैं। यह भयातुरता चिन्ता कहलाती है। भौतिक जीवन में समस्त योनियों में हर कोई या तो प्रकृति के नियमों को तोड़ने से या तोड़े बिना भी, चिन्ताग्रस्त रहता है। मुक्ति का अर्थ है इन अनवरत स्थायी चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना। यह तभी सम्भव है, जब चिन्ता को भगवद्-भक्ति में परिणत कर दिया जाय। श्रीमद्भागवत हमें अवसर प्रदान करता है कि हम चिन्ता के गुण को पदार्थ से अध्यात्म में बदल दें। ऐसा विद्वान् दार्शनिकों की संगति से, जैसे कि श्रीव्यासदेव के महान् पुत्र, स्वरूपसिद्ध शुकदेव गोस्वामी की संगति से सम्भव है। महाराज परीक्षित ने अपनी मृत्यु की चेतावनी मिलने के बाद इस अवसर का लाभ शुकदेव गोस्वामी की संगति करके उठाया और वांछित फल प्राप्त किया।

व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा श्रीमद्भागवत के इस तरह से वाचन तथा श्रवण का अनुकरण किया जाता है और मूर्ख श्रोता सोचते हैं कि वे भौतिक आसक्ति के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करके अभय-पद का जीवन प्राप्त कर सकेंगे। श्रीमद्भागवत का ऐसा अनुकरणात्मक श्रवण उपहासास्पद होता है और मनुष्य को ऐसे मसखरे लालची लोगों द्वारा भौतिक भोग को बनाये रखने के लिए सम्पन्न किये जानेवाले भागवतम् सप्ताह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।

लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; राज्ञे—राजा को; उपादिश्य—उपदेश देकर; विप्राः—वेदों में पारंगत व्यक्ति; जातक-कोविदाः—फलित ज्योतिष में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु व्यक्ति; लब्ध-अपचितयः—जिन्हें पारिश्रमिक के रूप में प्रचुर राशि प्राप्त हो चुकी थी; सर्वे—वे सब; प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्वकान्—अपने-अपने; गृहान्—घरों को।

इस प्रकार जो लोग ज्योतिष ज्ञान में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु थे, उन्होंने इस बालक के भविष्य के विषय में राजा युधिष्ठिर को उपदेश दिया। फिर प्रचुर दक्षिणा प्राप्त करके, वे अपने घरों को लौट गये।

तात्पर्य : वेद भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार से ज्ञान के आगार हैं। किन्तु ऐसे ज्ञान का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में, सभ्य मनुष्यों के लिए वेद सभी प्रकार से मार्गदर्शक हैं। चूँकि मानव जीवन समस्त प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाने का सुअवसर है, अतएव वेदों के ज्ञान द्वारा इसका समुचित ढंग से पथ-प्रदर्शन होता है—चाहे वह भौतिक आवश्यकताएँ हों या आध्यात्मिक मोक्ष। मनुष्यों का ऐसा विशेष वर्ग, जो वेदों के ज्ञान में समर्पित होकर लगा रहता था, विप्र अर्थात् वैदिक ज्ञान का स्नातक कहलाता था। वेदों में ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिनमें से ज्योतिष तथा आयुर्वेद दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं, जो सामान्य जन के लिए आवश्यक हैं। अतएव, बुद्धिमान लोग, जिन्हें सामान्यतया ब्राह्मण कहा जाता है, वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारंगत होकर समाज का मार्गदर्शन करते थे। यहाँ तक कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति धनुर्वेद में भी पारंगत होते थे। और विप्रगण ज्ञान के इस अनुभाग के भी शिक्षक होते थे, यथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य इत्यादि हुए हैं।

यहाँ पर वर्णित *विप्र* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *विप्रों* तथा *ब्राह्मणों* में थोड़ा अन्तर होता है। विप्रगण वे हैं जो कर्मकाण्ड में दक्ष होते हैं, जो समाज का मार्गदर्शन करके जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, जबकि ब्राह्मण लोग दिव्यता के आध्यात्मिक ज्ञान में पटु होते हैं। ज्ञान का यह विभाग ज्ञान-काण्ड कहलाता है और इससे भी ऊपर उपासना-काण्ड होता है। उपासना-काण्ड का चरम परिणति भगवान् विष्णु की भक्तिमय सेवा में होती है और जब ब्राह्मण सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो वे वैष्णव कहलाते हैं। पूजा की विधियों में विष्णु-पूजा सर्वोच्च विधि है। समुन्नत ब्राह्मण वैष्णव होते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत*, जो भक्ति का विज्ञान है, वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में बताया जा चुका है, यह वैदिक ज्ञान का परिपक्व फल है और उपरोक्त तीनों काण्डों अर्थात् कर्म, ज्ञान तथा उपासना काण्डों से कहीं अधिक श्रेष्ठ विषय है।

कर्मकाण्ड के पण्डितों में से जातक कर्म में पटु विप्र अच्छे ज्योतिषी होते थे, जो नवजात शिशु के भविष्य को केवल समय (लग्न) की गणना से बता देते थे। महाराज परीक्षित के जन्मकाल के समय ऐसे पटु जातक विप्र विद्यमान थे और उनके पितामह, महाराज युधिष्ठिर ने इन विप्रों को पर्याप्त सोना, भूमि, गाँव, अन्न तथा गाय समेत अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेंट कीं। सामाजिक संरचना में ऐसे विप्रों की

आवश्यकता है और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे लोगों का अच्छी तरह पालन करे, जैसाकि वैदिक पद्धति में विधान है। ऐसे पटु विप्र, राज्य द्वारा पर्याप्त धन दिए जाने पर, सामान्य लोगों की निःशुल्क सेवा कर सकते हैं और इस तरह वैदिक ज्ञान का यह विभाग सबों के लिए सुलभ हो सकता है।

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः ।

पूर्वं दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—इस; लोके—संसार में; विख्यातः—प्रसिद्ध; परीक्षित्—परीक्षा लेने वाला; इति—इस प्रकार; यत्—जो; प्रभुः—हे राजा; पूर्वम्—पहले; दृष्टम्—देखा जा चुका; अनुध्यायन्—निरन्तर विचारा जाकर; परीक्षेत—परीक्षा लेगा; नरेषु—प्रत्येक व्यक्ति की; इह—यहाँ।

इस तरह यह पुत्र संसार में परीक्षित (परीक्षक) नाम से विख्यात होगा, क्योंकि यह उन व्यक्ति की खोज करने के लिए सारे मनुष्यों का परीक्षण करेगा, जिन्हें इसने अपने जन्म के पूर्व देखा है। इस तरह यह निरन्तर उनका (भगवान् का) चिन्तन करता रहेगा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे, क्योंकि माता के गर्भ में रहते हुए ही उन पर भगवान् की छाप पड़ चुकी थी, अतएव वे निरन्तर भगवान् का चिन्तन किया करते थे। एक बार यदि भगवान् के दिव्य रूप की छाप किसी के मन में स्थित हो जाय, तो वह भगवान् को भुलाये नहीं भूल सकता। बालक परीक्षित गर्भ से बाहर आने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा यह देखने के लिए करता रहता था कि कहीं यह वही व्यक्ति तो नहीं हैं, जिसे उसने गर्भ में सर्वप्रथम देखा था। लेकिन भगवान् के समान या उनसे बढ़कर आकर्षक कोई नहीं हो सकता, अतएव वह बालक किसी को स्वीकार नहीं कर सका। लेकिन ऐसी परीक्षा के द्वारा भगवान् निरन्तर उसके साथ रहे और इस तरह स्मरण के द्वारा, महाराज परीक्षित भगवान् की भक्ति में सदैव लगे रहते।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यदि प्रत्येक बालक पर बचपन से ही भगवान् की छाप पड़ जाय, तो वह निश्चित रूप से महाराज परीक्षित की ही भाँति भगवद्भक्त बन सकता है। भले ही कोई महाराज परीक्षित की तरह इतना भाग्यशाली न हो कि उसे माता के गर्भ में ही भगवान् के दर्शन हो लें, लेकिन यदि बालक के माता-पिता चाहें, तो वह ऐसा बन सकता है। इस प्रसंग में मैं अपना व्यावहारिक उदाहरण दे सकता हूँ। मेरे पिता भगवान् के शुद्ध भक्त थे और जब मैं चार-पाँच

वर्ष का था, तो मेरे पिता ने मुझे राधा-कृष्ण की एक युगल मूर्ति प्रदान की थी। मैं खेल-खेल में, अपनी बहन के साथ इन विग्रहों की पूजा किया करता था और मैं निकट के राधा-गोविन्द मन्दिर की पूजाविधि का अनुकरण किया करता था। निरन्तर इस मन्दिर में जाकर तथा वहाँ होनेवाले उत्सवों का अपने खेल के विग्रहों के साथ अनुकरण करके मैंने भगवान् के प्रति सहज आकर्षण विकसित कर लिया। मेरे पिता मेरी स्थिति के अनुरूप इन उत्सवों का अवलोकन करते थे। बाद में स्कूल तथा कालेज जाने के कारण, मेरे ये कार्यकलाप ठप्प हो गये और मेरा अभ्यास छूट गया। किन्तु अपनी युवावस्था में, जब मैं अपने गुरु श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज से मिला, तो मेरी पुरानी अभिरुचि फिर से जागृत हो उठी और वही खेल की मूर्तियाँ मेरे आराध्य अर्चा-विग्रह बन गईं। यह तब तक चलता रहा, जब तक मैंने पारिवारिक सम्बन्ध नहीं तोड़ लिये और मुझे प्रसन्नता है कि मेरे पिता ने मुझ पर जो पहली छाप छोड़ी, वह गुरु की कृपा से बाद में भक्ति में विकसित हो सकी। महाराज प्रह्लाद ने भी यही उपदेश दिया है कि इस प्रकार ईश्वरी छाप बाल्यपन के प्रारम्भ में ही पड़ जानी चाहिए। अन्यथा जीव मनुष्य जीवन रूपी सुअवसर को खो सकता है, जो अन्य रूपों की भाँति नश्वर होते हुए भी अत्यन्त मूल्यवान है।

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः ।

आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; ववृधे—बड़ा हो गया; आशु—जल्दी ही; शुक्ले—शुक्लपक्ष; इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; आपूर्यमाणः—विलासपूर्ण; पितृभिः—पिता जैसे संरक्षकों द्वारा; काष्ठाभिः—पूर्ण विकास; इव—सदृश; सः—वह; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन।

जिस तरह शुक्लपक्ष में चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, उसी तरह यह राजकुमार (परीक्षित) शीघ्र ही अपने संरक्षक पितामहों की देख-रेख तथा सुख-सुविधाओं के बीच तेजी से विकास करने लगा।

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।

राजा लब्धधनो दध्यौ नान्यत्र करदण्डयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यमाणः—सम्पन्न करने की इच्छा करते हुए; अश्वमेधेन—अश्वमेध उत्सव द्वारा; ज्ञाति-द्रोह—स्वजनों से युद्ध; जिहासया—मुक्त होने के लिए; राजा—राजा युधिष्ठिर; लब्ध-धनः—कुछ धन प्राप्त करने के लिए; दध्यौ—विचार किया; न अन्यत्र—अन्यथा नहीं; कर-दण्डयोः—लगान तथा जुर्माना।

इसी समय राजा युधिष्ठिर स्वजनों से युद्ध करने के कारण किए गए पापों से मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध यज्ञ करने पर विचार कर रहे थे। लेकिन उन्हें कुछ धन प्राप्त करने की चिन्ता सवार थी, क्योंकि लगान तथा जुर्माने से एकत्र कोष के अतिरिक्त और कोई धन-संग्रह न था।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मणों तथा विप्रों को राज्य की तरफ से कुछ आर्थिक सहायता का अधिकार मिला हुआ था, उसी तरह राज्य के कार्यकारी अध्यक्ष को अधिकार था कि वह नागरिकों से कर तथा जुर्माने एकत्र करे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् राजकोष खाली हो चुका था, अतएव कर तथा जुर्माना-संग्रह के अलावा कोई अतिरिक्त निधि नहीं थी। ऐसा कोष केवल राज्य-व्ययों के लिए ही पर्याप्त था तथा और कोई निधि न होने से राजा चिन्तित थे कि किसी अन्य विधि से वे अधिक धन प्राप्त करे, जिससे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो सके। महाराज युधिष्ठिर इस यज्ञ को भीष्मदेव के आदेशानुसार सम्पन्न करना चाह रहे थे।

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।

धनं प्रहीणमाजहुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, अभिप्राय; आलक्ष्य—देखकर; भ्रातरः—अपने भाई; अच्युत—अच्युत, (भगवान् श्रीकृष्ण); चोदिताः—प्रेरणा पाकर; धनम्—धन; प्रहीणम्—एकत्र करके; आजह्रुः—ले आया; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा; भूरिशः—प्रचुर।

राजा की हार्दिक इच्छाओं को जानकर, उसके भाइयों ने अच्युत भगवान् कृष्ण की प्रेरणानुसार, उत्तर दिशा से (राजा मरुत्त द्वारा छोड़ा गया) प्रचुर धन एकत्र किया।

तात्पर्य : महाराज मरुत्त—ये विश्व के एक महान् सम्राट थे। इन्होंने महाराज युधिष्ठिर से काफी पहले संसार पर राज्य किया था। ये महाराज अविक्षित के पुत्र थे और सूर्यदेव के यमराज नामक पुत्र के महान् भक्त थे। इनका भाई संवर्त, देवताओं के विद्वान पुरोहित वृहस्पति का प्रतिद्वन्दी पुरोहित था। उसने शंकर-यज्ञ का संचालन किया जिससे भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे स्वर्ण के पर्वत-

शृंग का अधिकारी बना दिया। यह स्वर्ण-शंगू हिमालय पर्वत में कहीं पर है और आधुनिक साहसिक यात्री इसकी खोज कर सकते हैं। यह सम्राट इतना शक्तिशाली था कि प्रतिदिन यज्ञ समाप्त होने के बाद, इन्द्र, चन्द्र तथा बृहस्पति लोकों के देवता उसके महल में आया करते थे। चूँकि उसके अधिकार में स्वर्ण-शंगू था, अतएव उसके पास प्रचुर सोना था। उसके यज्ञ की वेदी का मण्डप पूर्णतया सोने से बनाया गया था। नित्य किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों में, वायुलोक के कुछ निवासियों को रसोई बनाने के काम जल्दी करने के लिए आमंत्रित किया जाता था तथा देवों की सभा का नेतृत्व विश्वदेव करते थे।

अपने निरन्तर पुण्यकर्मों से वे अपने राज्य से समस्त प्रकार की व्यधियों को दूर रखने में समर्थ हुए थे। उनके महान् याज्ञिक उत्सवों से देवलोक तथा पितृलोक के सारे निवासी प्रसन्न थे। वे प्रतिदिन विद्वान् ब्राह्मणों को शय्या, आसन, वाहन तथा प्रचुर सोना दान में देते रहते थे। अपने मुक्तहस्त दान तथा असंख्य यज्ञ सम्पन्न करने के कारण, स्वर्ग के राजा इन्द्रदेव उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे और सदा उनकी मंगल कामना करते थे। अपने पुण्यकर्मों के कारण, वे आजीवन युवक बने रहे और अपनी सन्तुष्ट प्रजा, मंत्रियों, वैध पत्नी, पुत्रों तथा भाइयों के साथ रहकर, उन्होंने एक हजार वर्षों तक राज्य किया। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनके पुण्यकर्मों की प्रशंसा की है। उन्होंने अपनी एकमात्र पुत्री का विवाह महर्षि अंगिरा से कर दिया था और उनके आशीर्वाद से वे स्वर्गलोक का भागी बने। पहले तो वे यज्ञों का पौरोहित्य विद्वान् बृहस्पति को देना चाहते थे, लेकिन बृहस्पति ने इस पद को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि राजा इसी धरती का एक मर्त्य प्राणी होता था। इससे वे अत्यन्त दुखी हुए, लेकिन नारद मुनि के कहने पर, उन्होंने संवर्त को इस पद पर नियुक्त किया और अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

किसी विशेष यज्ञ की सफलता इसके प्रभारी पुरोहित पर निर्भर करती है। इस युग में सभी प्रकार के यज्ञ वर्जित हैं, क्योंकि तथाकथित ब्राह्मणों में कोई ऐसा विद्वान् पुरोहित नहीं है। वे बिना किसी योग्यता के ही, ब्राह्मण पुत्र होने से ब्राह्मण बन जाते हैं। अतएव इस कलियुग में केवल एक प्रकार के यज्ञ की संस्तुति की गई है, वह है *सङ्कीर्तन यज्ञ* जिसका उद्घाटन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था।

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस धन से; सम्भृत—एकत्रित; सम्भारः—सामग्री, घटक; धर्म-पुत्रः—पवित्र राजा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; वाजिमेधैः—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन बार; भीतः—कुरुक्षेत्र युद्ध से अत्यधिक भयभीत; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; समयजत्—ठीक से पूजा की; हरिम्—भगवान् की।

उस धन से राजा तीन अश्वमेध यज्ञों के लिए सामग्री उपलब्ध कर सके। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अत्यन्त भयभीत पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भगवान् हरि को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व के आदर्श एवं विख्यात पुण्यात्मा राजा थे, फिर भी वे कुरुक्षेत्र युद्ध के समापन पर अत्यधिक भयभीत थे, क्योंकि इस युद्ध में में बड़ी मात्रा में नर-संहार हुआ था और यह सब उन्हें सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए किया गया था। अतएव युद्ध में होनेवाले सारे पापों का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और इन पापों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ करने चाहे, जिसमें घोड़े की बलि दी जाती है। ऐसे यज्ञ काफी महँगे पड़ते हैं। इसके लिए महाराज युधिष्ठिर को भी महाराज मरुत्त का सोना तथा उनके द्वारा ब्राह्मणों को दिया गया सोना लाना पड़ा। चूँकि विद्वान ब्राह्मण महाराज मरुत्त द्वारा दान दिया गया सारा सोना अपने साथ नहीं ले जा सके थे, अतएव दान में प्राप्त बहुत सा सोना वे वहीं छोड़ गए थे। महाराज मरुत्त भी इस तरह दान दिये गए सोने को फिर से संग्रह नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ में काम आनेवाले सारे स्वर्ण की थालियाँ तथा पात्र कूड़े में फेंक दिये गए थे और यह सोना तब तक बिना किसी के स्वामीत्व का पड़ा रहा, जब तक महाराज युधिष्ठिर ने अपने काम के लिए उसे एकत्र नहीं कर लिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के भाइयों को सलाह दी कि वे बिना किसी के स्वामीत्व के सोने को ले आयें, क्योंकि यह सोना राजा का था। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि राज्य की प्रजा ने ऐसे अनधिकृत सोने को एकत्र करके किसी उद्योग अथवा ऐसे ही किसी उद्यम में नहीं लगाया। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य की प्रजा अपनी सभी आवश्यकताओं में अत्यन्त सन्तुष्ट थी, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ का उद्योग नहीं चलाना चाहती थी। महाराज युधिष्ठिर ने यह स्वर्ण राशि यज्ञ सम्पन्न करने तथा भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए मँगवाई, अन्यथा राजकोष के लिए संग्रह करने की उनमें कोई आकांक्षा न थी।

हमें चाहिए कि महाराज युधिष्ठिर के कर्मों से शिक्षा ग्रहण करें। वे युद्धस्थल में घटित पापों से भयातुर थे, अतएव वे परम पुरुष को प्रसन्न करना चाह रहे थे। इससे संकेत मिलता है कि हमारे दैनिक कार्यकलापों में अनायास पाप होते रहते हैं और ऐसे अनचाहे पापों के प्रायश्चित्त के लिए, शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं (*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*) कि समस्त अवैध कर्म करने या अनिच्छित अपराधों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। ऐसा करने से वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगा। किन्तु जो ऐसा नहीं करते हैं और स्वार्थ अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हें अपने द्वारा किये गये पापों का कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव यज्ञ करने का मुख्य प्रयोजन परम पुरुष हरि को प्रसन्न करना है। यज्ञ की विधियाँ देश, काल तथा व्यक्ति के अनुसार बदल सकती हैं, किन्तु यज्ञों का उद्देश्य सभी काल में तथा सभी परिस्थितियों में एक ही रहता है और वह है परमेश्वर हरि की तुष्टि। पुण्यमय जीवन की यही रीति है और यही संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता लाने की विधि है। महाराज युधिष्ठिर ने संसार के आदर्श पुण्यात्मा राजा के रूप में यह सब किया।

यदि महाराज युधिष्ठिर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने में, राज्य कार्यों के संचालन में, जहाँ मनुष्य तथा पशुओं के वध को मानी हुई कला समझा जाता है, पाप कर बैठते तो जरा अनुमान करें कि कलियुग की अप्रशिक्षित जनता जाने तथा अनजाने में कितना पाप करती होगी, जिनके पास भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने का कोई साधन भी नहीं है। अतः *भागवत* का कथन है कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपने वृत्तिपरक कार्यों को सम्पन्न करके परमेश्वर को प्रसन्न करे (*भागवत १.२.१३*)।

भले ही कोई, किसी भी स्थान या समुदाय, जाति या सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति किसी भी वृत्तिपरक कार्य में क्यों न लगा हो, लेकिन उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार शास्त्रोचित यज्ञ करने चाहिए। वैदिक ग्रंथों में संस्तुति की गई है कि कलियुग में लोग, बिना अपराध के, कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् का गुणगान करें (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं ब्रजेत्*)। ऐसा करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम वापस जा कर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। हम इस ग्रंथ में कई स्थानों पर, विशेष रूप से आरम्भ में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का

जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते समय, इस विषय में बता चुके हैं और अब भी समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए उसी को दुहरा रहे हैं।

भगवान् ने *भगवद्गीता* में खुलकर घोषणा की है कि वे किस तरह हम पर प्रसन्न होते हैं और वही विधि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन तथा उनके उपदेश-कार्य से प्रदर्शित होती है। भगवान् हरि (परम भगवान् जो हमें संसार के सब कष्टों से मुक्त करते हैं) को जो हमें इस भवबंधन से छुटकारा दिलाते हैं, प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की सम्यक् विधि यही है कि इस कलह तथा विरोध के अंधकारमय युग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के मार्ग का पालन किया जाय।

महाराज युधिष्ठिर को समृद्धि के दिनों में अश्वमेध यज्ञ करने के लिए सामग्री जुटाने हेतु स्वर्ण राशि एकत्र करनी पड़ी थी। अतएव आज के अभावग्रस्त तथा स्वर्ण के सर्वथा अभाव के दिनों में हम ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने की बात नहीं सोच सकते हैं। इस समय हमारे पास कागज का अम्बार है और आधुनिक सभ्यता के आर्थिक विकास द्वारा उसे स्वर्ण में बदलने का वादा किया जाता है। फिर भी हम न तो व्यक्तिगत रूप से, न सामूहिक या राज्य संरक्षण में, महाराज युधिष्ठिर के समान प्रचुर धन खर्च कर सकते हैं। अतएव इस युग के लिए शास्त्र सम्मत तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा अनुमोदित विधि ही सर्वथा उपयुक्त है। इस विधि में किसी भी प्रकार का खर्च नहीं होता, फिर भी इससे अन्य व्ययसाध्य यज्ञ विधियों से अधिक लाभ पहुँचता है।

वैदिक विधानों द्वारा सम्पन्न होनेवाले अश्वमेध यज्ञों या गोमेध यज्ञों से यह नहीं समझना चाहिए कि ये पशुओं को मारने की विधियाँ हैं। वास्तव में यज्ञ में बलि किये गये पशु वैदिक मंत्रों के उच्चारण की दिव्य शक्ति से नया जीवन प्राप्त करते थे। समुचित विधि से मंत्र उच्चारण करने की शक्ति सामान्य लोगों की समझ से बाहर है। सारे वेद-मंत्र व्यावहारिक हैं और इसका प्रमाण था, बलि किये गये पशु को नवजीवन का प्राप्त होना।

आधुनिक युग के तथाकथित ब्राह्मणों या पुरोहितों द्वारा इस प्रकार से वैदिक मंत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण हो पाना सम्भव नहीं है। द्विज कुलों की अप्रशिक्षित सन्तानें अपने पूर्वजों जैसी नहीं हैं। अतएव उनकी गिनती शूद्रों में अर्थात् एक-जन्मा में की जाती है। ऐसा मनुष्य वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने के लिए अयोग्य होता है, अतएव मूल-मंत्रों का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होता है।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन सबों की रक्षा करने के लिए समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए *सङ्कीर्तन* आन्दोलन या यज्ञ का विधान किया था और आधुनिक युग के लोगों के लिए इस निश्चित तथा संस्तुत मार्ग का अनुसरण करने के लिए पुरजोर संस्तुति की गई है।

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।

उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आहूतः—बुलाये जाने पर; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; राज्ञा—राजा द्वारा; याजयित्वा—सम्पन्न कराकर; द्विजैः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; नृपम्—राजा की ओर से; उवास—निवास किया; कतिचित्—थोड़े; मासान्—महीने; सुहृदाम्—सम्बन्धियों के लिए; प्रिय-काम्यया—प्रसन्नता के लिए।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ में आमंत्रित होकर, भगवान् श्रीकृष्ण ने इस बात का ध्यान रखा कि ये सारे यज्ञ योग्य (द्विज) ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न कराये जाएँ। तत्पश्चात् सम्बन्धियों की प्रसन्नता के लिए, भगवान् वहाँ कुछेक मास रहते रहे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ सम्पन्नता का निरीक्षण करने के लिए आमंत्रित किया था और भगवान् ने अपने अग्रज के आदेशों का पालन करने के लिए, विद्वान् द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराया। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं बन जाता। उसे समुचित प्रशिक्षण तथा प्रामाणिक आचार्य से दीक्षा ग्रहण करके द्विज बनना होता है। ब्राह्मण कुलों की एकजन्मा सन्तानें शूद्रों के तुल्य होती हैं। अतएव ऐसे *ब्रह्म-बन्धुओं* को किसी ऐसे धार्मिक या वैदिक उत्सव के निमित्त अस्वीकार कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण को यह प्रबन्ध देखना था और चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उन्होंने सफल सम्पन्नता के लिए प्रामाणिक द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों को सम्पन्न कराया।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।

ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; राज्ञा—राजा द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; कृष्णया—द्रौपदी से भी; सह—सहित; बन्धुभिः—अन्य सम्बन्धियों के साथ; ययौ—गये; द्वारवतीम्—द्वारका धाम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; स-अर्जुनः—अर्जुन के सहित; यदुभिः—यदुवंश के सदस्यों से; वृतः—घिरे हुए।

हे शौनक, तत्पश्चात् भगवान् ने राजा युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा अन्य सम्बन्धियों से विदा लेकर, अर्जुन तथा यदुवंश के अन्य सदस्यों के साथ, द्वारका नगरी के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “सम्राट परीक्षित का जन्म” नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।